ॐ ह्रीं श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथाय नमो नमः

तीर्थोद्धारक आचार्यदेव श्री विजयनीतिहर्षसूरीश्वरगुरुभ्यो नमोनमः

-: श्री विजयलक्ष्मीसूरिश्वरजी विरचित :-

उपदेश-प्रासाद

प्रथम भाग हिन्दी भाषानुवाद

[व्याख्यान १ से ६१]

सम्पादकः—

मुनि श्री कुशलविजयजी

प्रकाशक :

प० पू० संविग्न शाखाग्रणी आचार्यदेव

श्री विजयहर्षसूरीश्वरजी के शिष्य तपोमूर्ति

प० पू० श्रीमद् मंगलविजयजी गणीवर के सदुपदेश से

श्री वर्द्धमान जैन तत्त्व प्रचारक विद्यालय

मुकाम शिवगंज पोस्ट एरनपुरा (राजस्थान)

मास्टर जेसिंगलाल भाई चुन्नीलाल

विक्रम सं० २०२०　　वीर सं० २४८९　　ईस्वी सन् १९६३

द्वितीयावृत्ति

प्रति १०००

मूल्य [illegible]

पुस्तक मिलने का पता

श्री वर्द्धमान जैन तत्त्व प्रचारक विद्यालय

विलायती वास–मुकाम शिवगंज

पोस्ट एरनपुरा (राजस्थान)

मुद्रकः—

पं० बालकृष्ण उपाध्याय

श्री नारायण प्रिंटिंग प्रेस,

ब्यावर

★ रैवताचल तीर्थोद्धारक ★

आचार्य श्री विजय नीतिसूरीश्वरजी महाराज

प्रस्तावना

—— :o: ——

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीविजयलक्ष्मीसूरि की अत्यन्त मनोहर एवं उपकारक कृति है। इस में संख्याबंध कथाओं के अतिरिक्त शास्त्राधार भी अधिक मात्रा में उपलब्ध है। मध्यम बुद्धिवाले वाचक के लिये ऐसे ग्रन्थ की परम उपयोगिता समझ परमपूज्य तपोवृर्ती, वयोवृद्ध पन्यासजी महाराज श्रीमंगलविजयजी महाराज की प्रेरणा से इस हिन्दी भाषानुवाद की द्वितीय आवृत्ति की योजना की गई है।

इस प्रथम विभाग में प्रथम चार स्तंभ के भाषान्तर का समावेश है, जिस में ६१ व्याख्यान हैं। इस विभाग में मात्र समकित विषय का ही विवेचन है। प्रारम्भ में मंगलाचरण कर उसके करने की आवश्यकता को सिद्ध करते हुए प्रथम व्याख्यान में जिनेश्वर के ३५ अतिशयों का रोचक वर्णन किया गया है जो पढ़ते ही बनता है। तत्पश्चात् तीन व्याख्यानों में समकित के भेद बतलाते हुए प्रत्येक व्याख्यान से समकित के ६७ भेदों की व्याख्या आरम्भ होती है जिनके वर्णन पर कुल ५३ व्याख्यान व ? कथायें हैं जिनकी विस्तृत सूचि नीचे दी गई है। अन्तिम

अनुयोगाचार्य

★ पंन्यास श्री मंगलविजयजी गणिवर महाराज ★

प्रस्तावना

—— :o: ——

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीविजयलक्ष्मीसूरि की अत्यन्त मनोहर एवं उपकारक कृति है। इस में संख्याबंध कथाओं के अतिरिक्त शास्त्राधार भी अधिक मात्रा में उपलब्ध है। मध्यम बुद्धिवाले वाचक के लिये ऐसे ग्रन्थ की परम उपयोगिता समझ परमपूज्य तपोमूर्ती, वयोवृद्ध पन्यासजी महाराज श्रीमंगलविजयजी महाराज की प्रेरणा से इस हिन्दी भाषानुवाद की द्वितीय आवृत्ति की योजना की गई है।

इस प्रथम विभाग में प्रथम चार स्तंभ के भाषान्तर का समावेश है, जिस में ६१ व्याख्यान हैं। इस विभाग में मात्र समकित विषय का ही विवेचन है। प्रारम्भ में मंगलाचरण कर उसके करने की आवश्यकता को सिद्ध करते हुए प्रथम व्याख्यान में जिनेश्वर के ३५ अतिशयों का रोचक वर्णन किया गया है जो पढ़ते ही बनता है। तत्पश्चात् तीन व्याख्यानों में समकित के भेद बतलाते हुए प्रत्येक व्याख्यान से समकित के ६७ भेदों की व्याख्या आरम्भ होती है जिनके वर्णन पर कुल ५३ व्याख्यान व ६१ कथायें हैं जिनकी विस्तृत सूचि नीचे दी गई है। अन्तिम

अनुयोगाचार्य

★ पंन्यास श्री कल्याणविजयजी गणिवर महाराज ★

चार व्याख्यान समकित के भेद आदि बतलाते हैं जिनमें प्रथम ३ व्याख्यानों में समकित के रोचक, कारक, दीपक तीन भेद हैं जिन पर तीन कथायें भी उद्धृत की गई हैं । अन्तिम व अधिक व्याख्यान विशेषतया समकित के वस्तुस्वरूप को प्रदर्शित करता है। इस ग्रन्थ का नाम "उपदेशप्रासाद" अर्थात् उपदेशों का महल हैं, जिसके २४ स्तम्भ व प्रत्येक स्तम्भ में १५-१५ व्याख्यान हैं। इस प्रकार समस्त २४ स्तम्भों में वर्षदिनानुसार ३६० व्याख्यान व एक विशेष व्याख्यान अर्थात् ३६१ व्याख्यान हैं जिससे यह प्रयोजन है कि व्याख्यानदाता मुनि प्रतिदिन एक व्याख्यान के हिसाब से पूरे वर्ष तक अपना उपदेशक्रम आरम्भ रख सकें। इस अपेक्षा से प्रथम विभाग के ४ स्तम्भों में ६० व्याख्यानों के स्थान में ६१ व्याख्यान हो गये हैं :—

समकित के ६७ भेद	उन पर व्याख्यान	उनके अन्तर्गत कथायें
४ श्रद्धा	४ व्याख्यान	४ कथायें
३ लिङ्ग	३ "	३ "
१० विनय	३ "	३ "
३ शुद्धि	४ "	४ "
५ दूषण	५ "	७ "
८ प्रभावक	१२ "	१३ "
५ भूषण	५ "	७ "

ॐ अर्हम् नमः

संघवी ताराचंद कस्तुरजीनु संक्षिप्त जीवन चरित्र

श्री राजस्थान मरुधर भूमिमां जालोर पादरली शास्त्रप्रसिद्ध सुवर्णगिरि प्रदेशमां धर्म कार्योथी उज्वल कीर्ति वालु प्रसिद्ध गाम पादरली छे. तेमां वि० सं० १९५१ ना महा सुदि पांचमे ताराओमां चन्द्रनी जेम आ पुन्य पुरुपनो जन्म थयो अने राशी मेलथी यथार्थ नाम ताराचन्द पाड्यु पुत्रना लक्षण पारणामां आनन्द विनयादि स्वभाव वाला थया।

पांच वर्पनी वय थता मातपिताने पाठशालामां मुकवानो मनोरथ जाग्यो अने शुभ दिवसे धार्मिक व्यवहारिक अभ्यास शरु कर्यो ए. जमाना मुजब अगीयार वर्पनी वय थतां हिसाव विगेरे काम चलाउ अभ्यास थतां पुन्योदयनो प्रकास करवा परदेश जवा भावना जागी अने वि० सं० १९६२नी शालमां मुंबई गया वेपारनो अनुभव करवा प्रथम नोकरी शरू करी. बुद्धि कुशलतानु काम करतां थोडा समयमां उंडो अनुभव अने आवरु मेलवी।

वि० सं० १९६८ नी सालमां बाई सोनी साथे लग्न थया अने स्वाधीन धंधानी भावना जागी धर्मसंस्कार होवाथी अल्पारंभ मारो कमाई वालो सराफी धंधो वि० सं० १९७३ नी सालमां शरु कर्यो. नीति पुन्यदान अने आवरू सर्व संपत्तिनु मूल समजी आवकनो अमुक भाग शुभ क्षेत्रोमां वापरवा निर्णय कर्यो।

★ संघवीर ताराचन्दजी किस्तूरचन्दजी पादरली ★

वि० सं० १९७५ नी सालमां प्रभातने प्रकाश करनार सूर्यनी जेम कुल दीपक कुन्दनमलनो जन्म थयो जन्म महोत्सवना वधामणा साथे सारी सखावतो शरु करी तथा देव गुरु भक्ति, ज्ञानी वैरागी मुनियोनो समागम अने धर्मना मर्म जाणी विवेकथी मन्दिर उपाश्रय साधर्मिक सेवा अनुकंपा जेवा क्षेत्रोमां बहुमान अने उदारता साथे गुप्तदान पण प्रसंगे करता बाह्य अने अन्तर धन साथे धर्मनी कमाणीथी उभयलोक सफल मानता. जेमां जेसलमेर तीर्थ यात्रानो संघ साडाआठसो यात्रालु साथे करतां शासननी प्रभावना घणी अनुमोदना करावे छे तेमां पंन्यास मंगल विजयजी विगेरे चतुर्विध संघ साथे वृद्ध वयमां पेदल चाली सांडेराव सुधी हमेशा तपजप साथे प्रयाण संघवीनु थतु ते विशेष अनुमोदन रुप छे ते मुमुक्षु आत्माने कल्याण हेतु छे माटे जणावबु जरूरनु मानु छु.

वि. सं. २००१ नी सालमां पादरली संघना अति आग्रहथी पंन्यास मंगल विजयजीनु चोमासु चार मुनियो साथे थयु बाद संघवीने स्वतन्त्र बीजु चोमासु कराववा भावना जागी अने केशरीयाजी उपधान करावी उदयपुर चोमासामां पंन्यासजीने आग्रह भरी विनंती पादरली चोमासु करवा माटे गया क्षेत्र फरसना बलवान जणावी मारवाड पंन्यासजी पधारतां आचार्य विजय हर्षसूरीश्वरजी गुरुश्रीनी अमदावाद चोमासानी आज्ञामलतां उदासीन थया त्यारे गुरुश्रीये महेन्द्रसूरिने आज्ञा आपी चोमासु

कराव्यु अने घणी शासन प्रभावना करी परन्तु पंन्यासमंगल विजयजीना गुणानु रागमां निरंतर भावना भावतां भावी योगे वि० संवत २०१३ नी सालमां पन्यासजीने वरामि उपधान करावता जाणी संबंधीयोने साथे लइ विनंति माटे वरामि गया अने जेसल-मेर संघ साथे तेमना सुपुत्र कुन्दनमलजीये करेल वीस स्थानक तपनु उद्यापन करवा मुहूर्त मागी पधारवा विनंति करी गुरूश्रीनी आज्ञा मुजब विनंती नो स्वीकार थतां वि० सं० २०१३ नी सालमां मारवाडी फागण वदी त्रीजना पंन्यासजीनो पादरलीमां बेन्ड विगेरे जय नाद साथे प्रवेश थयो अने मन्दिरमां मंडप रचना करावी कीमति वस्तुओ ज्ञान दर्शन चारित्रना उपकरणोनी मेलवी हमेशां संगीत अने मंडलीना नृत्य साथे नवनवी पूजाओ भारे अंगरच-नाओ रात्रि जागरणमां नृत्य मडलीनो नाटारंभ मोटी मेदनीमां थती प्रभावनाओ पण वारवार थती एम उजमणानो ओच्छव पूर्ण थतां संघनी आमंत्रण पत्रिका मुजब गामो गामनो यात्रालु वर्ग भेगो थयो. वदी नोमना सकल संघनु स्वामि वात्सल्यादि कार्य करी दशमनी प्रभाते संघवीना घेर प्रभु पधरावी चतुर्विध संघे स्नात्र महोत्सव कर्यो तिलक विधि मंत्रोचार साथे सेठ हीराचंद कस्तुरजीये करी फुलनाहार श्रीफल रूपानाणु भेट करी पंन्यास मंगलविजयजीना वास क्षेप साथे गुरु आशीर्वाद लई विजय मूहूर्ते प्रयाण कर्यु मन्दिरजीनो भण्डार भरी देव वन्दन चतुर्विध संघ साथे कर्यु सेवक विगेरेने दान सन्मान अने स्वामिवात्सल्यादि

कार्य पूर्ण थये वाजींत्रोना मंगलीक नाद साथे नगर बहार प्रयाण करी गाम तरफथी तथा संबंधी वर्गे पेचो बंधावी फुलना हार भेटणा विगेरे विधि पूर्ण थता तखतगढ प्रयाण थयु. मानव मेदनीये मार्ग सांकडो करी दीधो अने चतुर्विध संघ साथे संघवी चालतां तीर्थना गुण गानमां पोचता तखतगढ संघ सन्मुख आवी तिलकादि विधि साथे सामेयाथी प्रवेश करी चैत्य परिपाटी व्याख्यान ठामठाम गंहुलीयो स्वामिवात्सल्यो नृत्य मंडलीना नाटारंभो प्रभु पासे थया पूजा प्रभावनादिथी शासन प्रभावना करी अगीयारसना वलाणा संघना या दुजोना स्वागतोना कार्यो करी बारसनी सवारे संघनी विगेरेनु प्रयाण बेन्ड विगेरे मंगलीक नादो साथे चालतां सांडेराव सन्मुख थयु आवेल सांढेराव संघना तिलकादि स्वागत साथे प्रवेश करो चैत्य परिपाटी व्याख्यानादि गहुलीना सन्मान विगेरे शासन शोभाना कार्यो करी स्वामिवात्सल्य जमी बपोरना प्रयाणनी तैयारी जेसलमेर जवानी थई. घणु दूर तीर्थ होवाथी दरेकनी अनुकुलता मुजब मोटर सर्विस तैयार थइ साडा आटसो यात्रालुओने आनन्द उपजे तेवी व्यवस्था माटे टीकीटो अपाइ अने वोलींटरो पादरलीना युवक वर्गे जवाबदारी लीधी अने ते आदिजीनमंडले बेठको गोठवी दीधी पन्यासजीये वास चेप कर्यो आशीर्वाद साथे मंगलीक सांभली सांजना प्रयाण करी पाली संघ गामे पोच्यो तिलकादी स्वागत कार्यो साथे प्रवेस करी चैत्य परिपाटी स्वामिवात्सल्यादि शासन प्रभावना करी, वदी तेरसने

पडाव कर्यो त्यांना स्वागत साथे चैत्य परिपाटी आदि यात्राविधि करी शासन प्रभावना वाला कार्यो करी फागण सुदी त्रीजने सोमवारे कापरडा तीर्थे पडाव कर्यो स्वागतादिथी प्रवेश करी चार मजलानु गगनचुम्बी देव विमान सरखु मन्दिर जोता यात्रालु वर्गमां पूर्वना जैनोनी जाहोजलाली धर्म श्रद्धा साथेनो अनुभव थता आनन्द दभरायो यात्रा विधिनो ओच्छव करी संघवीनी हार्दिक भक्ति प्रभावना दि शासन कार्यो माटे मानपत्र आपवानों निर्णय करी राते संघ एकत्र थयो संघवीनी सेवा बहुमान उदारतादि गुणोनु वर्णन करी अभिनन्दन पत्र अर्पण करता संघवी तरफथी श्री संघ पांसे मांगणी थइ जे श्री संघ मारु घर पावन करवा पधारे मांगणीनो श्री संघे स्वीकार करता जयनाद साथे फुलना हार विगेरे सन्मान विधिये मानपत्र भेट कर्यु आनन्दित थयेल यातालु वर्ग साथे संघवीये प्रयाण करी पालीना जिनालयोनु दर्शन पूजन करी सुदी चोथने मंगलवारे पादरली पोच्या गामना संघे सन्मान साथे प्रवेस वार्जीत्रोना नाद साथे जयजयनो मानव मेदनीमां आनन्दोच्चार थयो जिनालयना दर्शनादि विधि करी श्रीसंघना पावनकारी पगला घरमां करावी स्वामि वात्सल्यादि स्वागत साथे घेर पोचवा सुधीनु खरच संघवी तरफथी यात्रालु वर्गने अपातु सेवाभावी आदिजीन मंडलने नोकर वर्ग तथा याचक वर्गने उचित सत्कार दान विधिथी हर्षना वधामणा कर्या आवी शासन प्रभावनामां पुन्यानुबंधी पुन्यवंति लक्ष्मीनो व्यय करी

सहायक नामावली

★

६२४) संघवीर ताराचन्दजी किस्तूरचन्दजी,
पादरली।

६२५) शा. बाबूलालजी तिलोकचन्दजी,
पादरली।

★ शा. बाबूलालजी तिलोकचन्दजी पादरली ★

विषय | पृष्ठ

विषय			पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

विषय			पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

करने के लिये ही रथारूढ़ होनेवाले ऐसे श्री नेमिनाथ प्रभु हमारे लिये सुखकारी हों।

शंख को धारण करनेवाले (शंखेश्वर) कृष्ण ने जिनकी स्तुति की है तथा जो नाथ के भी नाथ हैं ऐसे हे वामाराणी के पुत्र शंखेश्वर पार्श्वनाथस्वामी ! तुम्हारी जय हो ! इस प्रकार जिनेश्वर आदि त्रिपदीरूप वर्ण को प्राप्त ऐसे गणधर जिनकी स्तुति करते हैं वे तथा जो पार्श्वनाथस्वामी के उपनाम की संख्या अन्तरिक्ष, नवपल्लव आदि नामों से जिनतनु लक्षण के प्रमाण जितनी अर्थात् एक हजार आठ की जो जगतप्रसिद्ध है उस सुखदायक संख्या की मैं हर्षपूर्वक स्तुति करता हूं।

जो सिद्धार्थराजा के पुत्र अनन्तज्ञानरूपी कल्पवृक्ष के नन्दनवन के सदृश हैं, संसार के ताप को नाश करने में बावना चन्दन सदृश हैं, जिन्होंने अनिन्दित वचनों द्वारा विश्व को विकासित किया है, और जिन्होंने अपने (तीर्थंकर के) भवके पूर्वके तीसरे भव में ग्यारह लाख अस्सी हजार और पांचसो मासक्षमण किये हैं उन श्री वीरस्वामी की जय हो।

भव्य प्राणियों से अर्चन करने योग्य, कामदेव को जीतनेवाले, स्वयंभू तथा संसार का नाश करनेवाले ऐसे श्री अजितनाथ, संभवनाथ आदि तीर्थंकर ग्रन्थ के वक्ता और कर्ता आदि शुभ आत्मावाले सद्गुरुओं के लिये सुखदायक हों।

जिन्होंने अपनी देदीप्यमान कान्ति से सूर्य एवं चन्द्र को भी जीत लिया है ऐसे ये प्रथम जिनेन्द्र (श्री ऋषभस्वामी) समस्त जीवों की रक्षा करें।

श्रीभूपनाभिजनपान्वयपुष्करत्वे,
चिद्रूपदीधितिगणे रविरेव योऽभूत् ।
स्वीयौजसा शमितमोहतमःसमूहो,
कल्याणवर्णविभुरस्तु विभूतये सः ॥ २ ॥

भावार्थः—पृथ्वी के पालन करनेवाले श्रीमान् नाभिराजा के वंशरूपी आकाश में जो (प्रभु) सम्यग्ज्ञानरूपी किरणों के समूह में सूर्यवत् हुए और जिन्होंने अपने तेज से मोहरूपी अंधकार के समूह का नाश किया वे सुवर्ण समान कान्तिवान् प्रभु हमारी सम्पत्ति की वृद्धि करें।

मोक्ष लक्ष्मी के अद्वितीय हेतुरूप, तीनों लोकों की लक्ष्मी के अद्वितीय हेतुरूप, आत्मस्वरूप को प्रकट करनेवाले और गम्भीरतारूप लक्ष्मी को उत्पन्न करने में सागर सदृश ऐसे श्री विश्वसेन राजा के पुत्र श्री शान्तिनाथस्वामी का मैं आश्रय लेता हूँ।

मोहरूपी असुरों का नाश करने में नारायण (विष्णु) सदृश और कामदेव का नाश करने में महादेव (शंकर) सदृश तथा मन को जीतनेवाले और विवाह के बहाने से तिर्यंचों पर दया

करने के लिये ही रथारूढ़ होनेवाले ऐसे श्री नेमिनाथ प्रभु हमारे लिये सुखकारी हों।

शंख को धारण करनेवाले (शंखेश्वर) कृष्ण ने जिनकी स्तुति की है तथा जो नाथ के भी नाथ हैं ऐसे हे वामाराणी के पुत्र शंखेश्वर पार्श्वनाथस्वामी ! तुम्हारी जय हो ! इस प्रकार जिनेश्वर आदि त्रिपदीरूप वर्ण को प्राप्त ऐसे गणधर जिनकी स्तुति करते हैं वे तथा जो पार्श्वनाथस्वामी के उपनाम की संख्या अन्तरिक्ष, नवपल्लव आदि नामों से जिनतनु लक्षण के प्रमाण जितनी अर्थात् एक हजार आठ की जो जगतप्रसिद्ध है उस सुखदायक संख्या की मैं हर्षपूर्वक स्तुति करता हूँ।

जो सिद्धार्थराजा के पुत्र अनन्तज्ञानरूपी कल्पवृक्ष के नन्दनवन के सदृश हैं, संसार के ताप को नाश करने में बावना चन्दन सदृश हैं, जिन्होंने अनिन्दित वचनों द्वारा विश्व को विकासित किया है, और जिन्होंने अपने (तीर्थंकर के) भवके पूर्वके तीसरे भव में ग्यारह लाख अस्सी हजार और पांचसो मासक्षमण किये हैं उन श्री वीरस्वामी की जय हो।

भव्य प्राणियों से अर्चन करने योग्य, कामदेव को जीतनेवाले, स्वयंभू तथा संसार का नाश करनेवाले ऐसे श्री अजितनाथ, संभवनाथ आदि तीर्थंकर ग्रन्थ के वक्ता और कर्ता आदि शुभ आत्मावाले सत्पुरुषों के लिये सुखदायक हों।

प्रथम पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके वर्ष के दिनों के अनुसार तीन सो साठ व्याख्यानों के कहे जाने से अब्ददिन परिमिता नामकी उपदेशप्रासाद की इस वृत्ति को करता हूँ । इस स्थान पर प्रथम तीन प्रणव (ॐकार) की स्थापना करके उसके पश्चात् तीन आकाश बीज (ह्रीं) की स्थापना करके तत्पश्चात् सरस्वती बीज (ऐं) की स्थापना करके-इस रूप मंत्र को नमन कर इस शास्त्र का आरम्भ किया गया है ।

जिस प्रकार बालक की तुतली आवाज भी उसके पिता को रोचक एवं कर्णप्रिय प्रतीत होती है उसी प्रकार लेखक का यह प्रलापरूपी वचन भी श्रुतधरों के सामने सत्यपन को प्राप्त होगा, जिस प्रकार कोई तृषातुर प्राणि क्षीरसागर में से थोड़ासा जल लेकर भी अपनी तृषा की तृप्ति करता है उसी प्रकार लेखकने भी अनेकों शास्त्रों में से थोड़ा थोड़ा ग्रहण कर यह व्याख्या लिखी है कि जिससे वह निंद्य नहीं बने । इस ग्रन्थ में प्रथम एक एक श्लोक कह कर उस पर गद्य में एक एक दृष्टान्त दिया गया है इससे उनकी संख्या भी वर्ष के दिनों के अनुसार तीन सो और साठ हो गई है ।

प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में नमस्काररूप, ग्रन्थ की वस्तु का प्रदर्शन करने निमित्त अथवा आशीर्वादरूप मंगल, विघ्न के नाश करने तथा शिष्ट समुदाय के आचार पालन निमित्त करना आवश्यक है । कहा भी है कि:—

श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि ।
अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वापि यान्ति विनायकाः ॥ १ ॥

भावार्थः—महापुरुषों को भी श्रेष्ठ कार्यों में अनेकों विघ्नों का सामना करना पड़ता है किन्तु अशुभ कार्यों में प्रवृत मनुष्यों के विघ्न दूर भाग जाते हैं ।

इसलिये विघ्नसमूह की शान्ति के लिये उपरोक्त मंगल शास्त्र के आरम्भ, मध्य और अन्त में उच्चारण करना आवश्यक समझा गया है । यहां यह प्रश्न होता है कि "स्याद्वाद धर्म के वर्णनरूप होने से तो यह समस्त ग्रन्थ ही मंगलरूप है फिर यहां शास्त्र के आरम्भ, मध्य एवं अन्त में मंगलोच्चारण करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि इसमें मंगलोच्चारण करने का कोई प्रयोजन नहीं रहता" इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि इस में जो मंगल नहीं करने के लिये कारण बतलाया गया है यह असिद्ध है क्यों कि शिष्यजन निर्विघ्नतया ग्रन्थ पूर्ण कर सके (अभ्यास कर सके) इस के लिये आरम्भ में, उसको हृदयंगम कर सके इसके हेतु मध्य में, और यही ग्रन्थ शिष्य प्रशिष्यादिक परंपरा द्वारा सब को उपकारी हो सके इस कारण अन्त में मगलोच्चारण की आवश्यकता होती है । इसी विषय में प्रशंसनीय भाष्यरूपी धान्य उत्पन्न करने में पृथ्वी सदृश श्री जिनभद्रगणि महाराज का कहना है कि:—

तं मंगलमाईए, मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स ।
पढमं सत्थत्थाविग्घ-पारं गमनाय निद्दिठं ॥ १ ॥

इत्यादि

भावार्थः—शास्त्र के आरम्भ, मध्य एवं अन्त में मंगलोच्चारण करना चाहिये। उस में प्रथम मंगल शास्त्र और उसके अर्थका निर्विघ्न समाप्त होने के लिये करना कहा गया है। इत्यादि।

इसी प्रकार शिष्ट जनोंद्वारा भी मंगलोच्चारण का आचरण होना पाया गया है। शिष्ट पुरुष किन को कहते हैं? शास्त्ररूप सागर को पार करने के लिये जो शुभ व्यापार में प्रवृत्त होते हैं उनको शिष्ट पुरुष कहते हैं। कहा भी है किः—

शिष्टानामयमाचारो, यत्ते संत्यज्य दूषणम् ।
निरन्तरं प्रवर्तन्ते, शुभ एव प्रयोजने ॥ १ ॥

भावार्थः—शिष्टजन का यह आचार है कि वे दूषणों का परित्याग कर निरन्तर शुभ कार्य में ही प्रवृत होते हैं।

अपितु बुद्धिमान् पुरुषों का कोई भी कार्य निष्प्रयोजन नहीं होता क्योंकि बिना प्रयोजन के किया हुआ कार्य तो मार्ग में पड़ी हुई कांटेवाली डली के उपमर्दन करने तुल्य निष्फल होता है अतः इस प्रकार की शंका के निवारणार्थ बुद्धिमान् पुरुषों को इस ग्रन्थ के पठनपाठन में प्रवृत्त करने तथा उपद्रवों का नाश करने के

निमित्त ग्रन्थकार इष्ट देवता को नमस्कार करने के लिये सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन के सूचक श्लोक का कथन करते हैं:—

ऐन्द्रश्रेणिनतं शान्ति-नाथमतिशयान्वितम् ।
नत्वोपदेशप्रासाख्यं, ग्रन्थं वक्ष्ये प्रबोधदम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ:—इन्द्रसमूह से वंदित एवं अतिशयों से युक्त शान्तिनाथ स्वामी को नमस्कार करके प्रबोधात्मक उपदेशप्रासाद नामक ग्रन्थ का वर्णन करता हूँ।

विवेचन:—"उपदेश" अर्थात् हमेशा व्याख्यान देने योग्य ऐसा तीन सो एकसठ दृष्टान्तयुक्त "सद्म" अर्थात् स्थान (महल-प्रासाद) नामक ग्रन्थ को प्रारम्भ किया जाता है। वह ग्रन्थ कैसा है ? "प्रबोधदम्" अर्थात् सम्यग् ज्ञान को देनेवाला—उत्पन्न करनेवाले। इस ग्रन्थ को कैसे आरम्भ किया गया ? नमस्कारपूर्वक अर्थात् मन, वचन और काया से नमस्कार करके। किसको नमस्कार कर ? शान्तिनाथ को—अचिरा माता के पुत्र-विश्वसेन के पुत्र सोलवे तीर्थंकर को। वे शान्तिनाथ प्रभु कैसे हैं ? चोसठ इन्द्र, बारह चक्रवर्ती, नो वासुदेव, नो प्रतिवासुदेव, नो बलदेव तथा गणधर, विद्याधर और मृगेन्द्र आदि के समूह द्वारा नमस्कृत हैं। अपितु अपाय अपगम आदि चार[1] अथवा प्रकारान्तरे चौंतीश

---

१. ज्ञानातिशय, वचनातिशय, पूजातिशय और अपाया-पगमातिशय ॥

देवा दैवीं नरा नारीं, शबराश्चापि शाबरीम् ।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं, मेनिरे भगवद्गिरम् ॥ १ ॥

भावार्थः-भगवान की वाणी को देवता दैवी भाषा में, मनुष्य मानुषी भाषा में, भील लोग अपनी भील भाषा में और तिर्यंच भी अपनी (पशु पक्षी की) भाषा में बोली जाती है ऐसा मानते हैं।

इस प्रकार के गुणानुगुण अतिशय बिना एक ही काल में एक साथ अनेक प्राणियों का उपकार होना अशक्य है। इस विषय में एक भील का दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि:—

सरःशरस्वरार्थेन, भिल्लेन युगपद्यथा ।
सरो नत्थीति वाक्येन, प्रियास्तिस्रोऽपि बोधिताः ॥ १ ॥

भावार्थः—सरोवर, बाण और सुमधुर कंठ इन तीनों अर्थों को एक साथ कहने की इच्छावाले किसी भील ने "सरो-नत्थि-सर नहीं" इस वाक्य द्वारा अपनी तीनों स्त्रियों को समझा दिया।

एक भील ज्येष्ठ महीने में अपनी तीनों स्त्रियों को साथ लेकर किसी ग्राम को जारहा था। मार्ग में एक स्त्री ने उसको कहा 'हे स्वामी ! आप सुकंठ से गायन करें कि जिसे सुनने से मुझे इस मार्ग का श्रम तथा सूर्य की गर्मी दुःसह न हो।' दूसरी स्त्री ने कहा कि 'स्वामी ! तुम जलाशय में से कमल सुगन्ध मिश्रित

शीतल जल लाकर मेरी तृष्णा का निवारण करो।' तीसरी ने कहा कि 'हे पति ! मुझे मृग का मांस लाकर दो कि जिससे मेरी क्षुधा का निवारण हो।' इस प्रकार उन तीनों स्त्रियों के वचन सुनकर उस भील ने 'सरो नत्थि' इस एक ही वाक्य से उन तीनों को उत्तर दिया। जिससे पहली स्त्री ने समझा कि 'मेरे स्वामी का कहना है कि मेरा 'सरो' अर्थात् स्वर-सुमधुर कंठ नहीं है इसलिये किस प्रकार गान करूं ?' दूसरी ने विचार किया कि 'सरो अर्थात् सरोवर यहां आसपास नहीं तो फिर जल कहां से लाऊं ?' तीसरी ने समझा कि 'सरो अर्थात शर-बाण नहीं, तो फिर मृग को किस प्रकार मार कर उसका मांस लाया जा सके ?'

जिस प्रकार भील के एक ही वाक्य से उन तीनों स्त्रियों को अपने प्रश्नों का उत्तर मिल जाने से वे संतुष्ट हो गई इसी प्रकार भगवान की वाणी जो उपमारहित तथा अकथनीय है उस वाणी को यदि अनेक प्राणी समझ लेवें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? कहा भी है कि:—

नयसप्तशतीसप्त-भंगीसंगीतसंगतिम् ।
शृण्वन्तो यद्गिरं भव्या, जायन्ते श्रुतपारगाः ॥ १ ॥

भावार्थः—सात नय के सातसो भंगों से और सप्तभंगी की रचना से मिश्रित-युक्त भगवान की वाणी को सुनकर अनेक भव्यप्राणी श्रुत के पारगामी होते हैं।

(३) भगवान के मस्तक के पीछे बारह सूर्यबिंब की कान्ति से भी अधिक तेजस्वी और मनुष्यों को मनोहर प्रतीत होनेवाला भामंडल अर्थात् कान्ति के समूह का उद्योत प्रसारित होता है। श्रीवर्धमान देशना में कहा है किः—

रूवं पिच्छंताणं, अइदुलहं जस्स होउ मा विग्घं ।
जो पिंडिऊण तेअं, कुणंति भामंडलं पिट्ठे ॥ १ ॥

भावार्थः—भगवंत के रूप को देखनेवाले के लिये उसका अतिशय तेजस्वीपन होने से उसके सामने देखना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है इसलिये सर्व तेज का समूह एकत्रित होकर भगवंत के मस्तक के पीछे रहता है कि जिससे भगवंत के रूप को देखने- वाले सुखपूर्वक भगवंत की ओर देख सकते हैं।

(४) दया के अद्वितीय निधि भगवान जिस जिस स्थल में विहार करते हैं उस उस स्थलपर सर्व दिशाओं में पचीस पचीस योजन और ऊपर नीचे साड़े बारह साड़े बारह योजन इस प्रकार पांच सो[1] कोस तक पहले के होनेवाले ज्वरादि रोगों का नाश हो जाता है और नये रोग उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

---

१ प्रत्येक दिशा में पचीस पचीस योजन अर्थात सो सो कोस मिलकर चार दिशा के चारसो कोस तथा ऊपर और नीचे साढ़े बारह साढ़े बारह योजन अर्थात् पचास पचास कोस मिल कर सो कोस। ये सब मिलकर पांच सो कोस हुए। इसी प्रकार ग्यारह अतिशय तक समझना चाहिये।

(५) उपरोक्तानुसार भगवान की स्थिति से पांच सो कोस तक प्राणियों के पूर्वभव में बांधे हुए और जाति से उत्पन्न हुए (स्वाभाविक) वैर परस्पर बाधाकारी नहीं होते।

(६) उपरोक्तानुसार पांचसो कोस तक ईतियां (सात प्रकार के उपद्रव), तथा धान्यादि को नाश करनेवाली टिड्डि, तोते, चूहे आदि उत्पन्न नहीं होते।

(७) उपरोक्त भूमि में महामारी, दुष्ट देवतादि के उत्पात (उपद्रव) और अकाल मृत्यु नहीं होती।

(८) उपरोक्त भूमि में अतिवृष्टि अर्थात् लगातार निरन्तर वर्षा नहीं होती कि जिस से धान्य मात्र नष्ट हो जाय।

(९) उपरोक्त स्थल में अनावृष्टि-सर्वथा जल का अभाव नहीं होता कि जिस से धान्यादिक की उत्पत्ति ही न हो।

(१०) उस भूमि में दुर्भिक्ष-दुष्काल नहीं होता।

(११) अपने राज्य के लश्कर का भय (हुल्लड़ आदि) तथा अन्य राज्य के साथ संग्रामादिक होने का भय उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार कर्मक्षयजन्य ११ अतिशय समझना चाहिये।

अब देवताओं द्वारा किये गये उन्नीस अतिशय इस प्रकार हैं।

(१) प्रभु जिस स्थल पर विचरते हैं उस जगह आकाश में देदीप्यमान कांतिवाला धर्मप्रकाशक धर्मचक्र फिरता रहता है (आगे चलता रहता है)।

(२) आकाश में श्वेत चामर दोनों ओर चलते हैं।

(३) आकाश में निर्मल स्फटिक मणि निर्मित पादपीठ सहित सिंहासन चलता रहता है।

(४) आकाश में भगवान के मस्तक पर तीन छत्र रहते हैं।

(५) आकाश में रत्नमय धर्मध्वज प्रभु के आगे आगे चलता है। सर्व ध्वज की अपेक्षा यह ध्वज अत्यन्त बड़ा होने से इसे इन्द्र ध्वज भी कहते हैं।

ये पांचों अतिशय जहां जगद्गुरु विहार करते हैं वहां आकाश में चलते रहते हैं और जहां पर भगवान विराजते हैं वहां यथायोग्य उपयोग में आते हैं अर्थात् धर्मचक्र तथा धर्मध्वज आगे के भाग में रहता है, पादपीठ पैरों के नीचे रहता है, सिंहासन पर प्रभु विराजते हैं, चामर दोनों तरफ ढुलते हैं और छत्र मस्तक पर रहते हैं।

(६) मक्खन सदृश कोमल स्वर्ण के नो कमल देवता गण बनाते हैं जिन में से दो कमलों पर तीर्थंकर भगवंत अपने दो पैरों को रखकर चलते हैं, शेष सात कमल भगवान के पीछे

रहते हैं जिनमें से दो कमल क्रमशः भगवान के आगे आगे रहते हैं।

(७) तीर्थंकर के समवसरण में देवतागण मणि से, स्वर्ण से और चान्दी से इस प्रकार तीन गढ़ निर्मित करते हैं। उनमें से पहला गढ़ (प्राकार) विचित्र प्रकार के रत्नों से वैमानिक देवता बनाते हैं. दूसरा अर्थात् मध्यम प्राकार सुवर्ण से ज्योतिषी देव बनाते हैं, तथा तीसरा बाहर का प्राकार चा दी से भुवनपति देवता बनाते हैं।

(८) तीर्थंकर जिस समय समवसरण में सिंहासन पर विराजते हैं उस समय उनका मुँह चारों दिशाओं में दिखाई देता है। उसमें से पूर्व दिशा में मुख रखकर प्रभु स्वयं विराजते हैं, अन्य तीन दिशाओं में जिनेन्द्र के प्रभाव से उनके सदृश ही रूपवान सिंहासन आदि सहित तीन मूर्तियें देवतागण बनाते हैं। ऐसा करनेका यह कारण है कि सर्व दिशाओं में बैठे हुए देवताओं आदि को ऐसा होने से यह विश्वास हो जाता है कि प्रभु स्वयं हमारे सामने बैठ कर ही उपदेश दे रहे हैं।

(९) जहां जहां प्रभु विराजते हैं वहां देवतागण जिनेश्वर के उपर अशोक वृक्ष रचते हैं। वह अशोक वृक्ष ऋषभदेवस्वामी से लगाकर श्री पार्श्वनाथस्वामी तक अर्थात् तेवीस तीर्थंकरों के ऊपर उनके शरीर के मान से बारह गुना ऊंचा रचा जाता है और महावीरस्वामी ऊपर बत्तीस धनुष ऊंचा रचा जाता है। कहा है कि:—

[illegible] ॥ २ ॥

[illegible] होता है, [illegible] ([illegible]) [illegible] होता है, और [illegible] ऊंचा होता है।

यहां पर शंका होती है कि "आवश्यक चूर्णि में श्री महावीरस्वामी के समवसरण के प्रसंग में कहा है कि 'असोगवरपायवं जिणउच्चत्ताए बारसगुणं सक्को विउव्वइ' अर्थात् इन्द्र ने जिनेश्वर की ऊंचाई से बारहगुना ऊंचा अशोक नाम श्रेष्ठ वृक्ष बनाया और यहां पर जो बत्तीस धनुष ऊंचा होना कहा है सो ऐसा कैसे संभव हो सकता है?" इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि "आवश्यकचूर्णि में जो बारहगुना ऊंचाई का प्रमाण कहा गया है यह केवल अशोक वृक्ष का ही कहा गया है और यहां पर जो बत्तीस धनुष का मान कहा गया है वह साल वृक्ष सहित अशोक वृक्ष का प्रमाण बतलाया गया है। यहां पर भी अशोक वृक्ष का बारहगुना ही समझना चाहिये अर्थात् महावीरस्वामी के शरीर की ऊंचाई सात हाथ की है जिसको बारहगुना करने से चोरासी हाथ अर्थात् इकवीश धनुप ऊंचा अशोक वृक्ष और उस पर ग्यारह धनुप ऊंचा साल वृक्ष होने से दोनों मिल कर बत्ती

धनुष के मान के हुए ऐसा प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में कहा गया है।"

(१०) जहां जहां तीर्थंकर विचरते हैं वहां वहां कांटे अधोमुख हो जाते हैं अर्थात् मार्गस्थित कंटकों की नोकें नीचे की ओर झुक जाती हैं।

(११) जहां जहां भगवान चलते हैं वहां वहां वृक्ष नीचे झुकते जाते हैं मानो कि वे भगवान को प्रणाम करते हों।

(१२) भगवान लीला सहित जिस स्थल में विचरते हैं वहां आकाश में देवदुन्दुभि बजती रहती है।

(१३) भगवंत जहां जहां विचरते हैं वहां संवर्तकजाति का पवन एक योजन प्रमाण पृथ्वी को शुद्ध कर (कचरा आदि दूर कर) सुगंधित, शीतल और मन्द मन्द तथा अनुकूल अवस्था में बहता है जिससे सर्व प्राणियों के लिये सुखदायक होता है, इसके लिये श्रीसमवायांग सूत्र में कहा है कि-सीयलेणं सुहफासेणं सुरभिणा मारुएणं जोयण परीमंडलं सव्व समंता पमज्जिज्जति ॥

शीतल, सुखस्पर्शक और सुगंधित पवन सर्व दिशाओं में चारों ओर एक एक योजन भूमि को प्रमाजन करता है।

(१४) जगद्गुरु जिनेश्वर जहां जहां संचार करते हैं वहां चास, मोर और पोपट आदि पक्षी प्रभु की प्रदक्षिणा करते हैं।

इस प्रकार सिद्धान्त का पाठ पढ़कर कितने ही अल्पश्रुत पंडित मनःकल्पना से कहते हैं कि जिस स्थान पर मुनिगण बैठते हैं वहां पर देवतागण पुष्पवृष्टि नहीं करते। यह कथन भी माननीय नहीं होता क्योंकि जिस स्थान पर मुनिगण बैठते हैं उसी स्थान पर वे काष्ठवत् स्थिर होकर बिना हिलेडुले बैठे रहें ऐसा कोई नियम नहीं है परन्तु कारणवश उनका आनाजाना भी संभव है अतः इस शंका का यही यथोचित उत्तर प्रतीत होता है कि जैसे एक योजन समवसरण की भूमि में अपरिमित सुर, असुर, नर और तिर्यंचों का परस्पर मर्दन होने पर भी उनको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता उसी प्रकार जानुप्रमाण पुष्पों के समूह पर मुनिगण तथा विविध जनसमूह के चलने से भी उन पुष्पों को कोई कष्ट नहीं होता अपितु जैसे उन पर अमृतरस की बौछार की हो इस तरह से वे उलटे विशेषतया विकसित होते जाते हैं क्योंकि अनुपम तीर्थंकरों का प्रभाव ही अविचारणीय है।

(१७) तीर्थंकर के मस्तक के केश, दाढ़ी, मूंछ तथा हाथ एवं पैर के नखों की वृद्धि नहीं होती, सदैव एक ही दशा में रहते हैं।

(१८) तीर्थंकरों के समीप सर्वदा कम से कम एक करोड़ भवनपति आदि चारों निकाय के देव रहते हैं।

(१६) जिनेश्वर जिस स्थान में विचरते हैं वहां वसंत आदि सर्व ऋतुओं के मनोहर पुष्प फलादि का समूह उत्पन्न होता है अर्थात् ऋतुएं भी सब अनुकूल हो जाती है।

इस प्रकार तीर्थंकरों के सब चोतीस अतिशय का वर्णन जानना चाहिये। इन अतिशयों में किसी स्थान पर समवायांग के कारण कुछ कुछ भिन्नता जान पड़ती है वह मतान्तर के कारण से है जिनका असली कारण तो सर्वज्ञ ही जान सकते हैं।

मूल श्लोक में 'अतिशयान्वितम्' अतिशयों से युक्त ऐसा जो कहा गया है उसकी यह व्याख्या की गई है। ऐसे अतिशयों से युक्त विश्वसेन राजा के कुल में तिलक समान और अचिरा माता की कुक्षिरूपी शुक्ति (सीप) से मुक्ता (मोती) समान सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथस्वामी को नमस्कार कर अर्थात् उपहास का त्याग करने निमित्त मन, वचन, काया की शुद्धि से प्रणाम कर अनेक शास्त्रों का अनुसरण कर यह उपदेशप्रासाद नामक ग्रन्थ रचा गया है।

इस ग्रन्थ में सम्बन्ध वाच्य वाचक लक्षण है। इस ग्रन्थ में जो अर्थ है वह वाच्य है और उस अर्थ का कहनेवाला यह ग्रन्थ वाचक है। इस ग्रन्थ में व्याख्यान करने योग्य अर्हद्धर्म के उपदेश का जो निरूपण किया गया है वह इस शास्त्र का अभिधेय है। इस ग्रन्थ का प्रयोजन दो प्रकार का है। एक ग्रन्थकर्ता का

और दूसरा श्रोता का। इन दोनों के भी दो अन्य प्रयोजन हैं एक पर (प्रधान) और दूसरा अपर (गौन)। ग्रन्थकर्ता का पर प्रयोजन मोक्षपद की प्राप्ति करना और अपर प्रयोजन भव्य जीवों को बोध उपजाना है। इसी प्रकार श्रोताओं का पर प्रयोजन स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति करना और अपर प्रयोजन शास्त्रतत्त्व का बोध होना है। इस प्रकार का अर्थात् सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजनवाला शास्त्र बुद्धिमानों के लिये उसमें प्रवृत्ति करानेवाला सिद्ध होता है।

यहां प्रथम श्लोक में 'अतिशयान्वितम् (अतिशयों से युक्त)' ऐसा जो जिनेश्वर का विशेषण दिया गया है उस (अतिशयों) का वर्णन टीकाकार ने अत्यन्त विस्तार से किया है। यह भाव मंगलमय, सर्व विघ्नविनाशक एवं सर्व कल्याण-कारक होने से किया गया है।

जो मनुष्य जिनेश्वर के अतिशयों के इस वर्णन को निरंतर प्रातःकाल सुनते हैं वे समग्र समृद्धि युक्त होते हैं।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रन्थस्य वृत्तौ जिननमस्कार-कारणातिशयवर्णनरूपं प्रथमं व्याख्यानम् ॥ १ ॥

व्याख्यान १

समकित

यहां प्रथम सर्व समृद्धि के निदानरूप, सर्व गुणों में मुख्य और समस्त धर्म कार्यों के मूल कारणरूप सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा जाता है:—

"देवत्वधीर्जिनेष्वेव, मुमुक्षुषु गुरुत्वधीः ।
धर्मधीरार्हतां धर्मे, तत्स्यात्सम्यक्त्वदर्शनम् ॥ १ ॥"

भावार्थः—रागद्वेष को जीतनेवाले जिन कहलाते हैं। वे जिन नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन प्रकार के होते हैं। उन जिनेश्वरों के प्रति देवबुद्धि रखना तथा भव (संसार) से अपनी आत्मा को मुक्त करने की इच्छा रखनेवाले जो मुमुक्षु प्राणी हैं उन में गुरु स्थापन करना और दुर्गति में पड़ते हुए जीवों को उबारनेवाले जिनेश्वरप्रणीत धर्म में ही धर्मपन की श्रद्धा रखना सम्यग्दर्शन कहलाता है।

यद्यपि दर्शन शब्द से उस वस्तु का बोध होता है कि जो चक्षु से दिखलाई दे किन्तु जैन शासन में तो सत्य देव, सत्य गुरु और सत्य धर्म के तत्त्व का जो संशयादिक रहित सम्यग् ज्ञान होता है उसे ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। वह ज्ञान दर्शन मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम से प्राप्त होता है। अत

जिनेन्द्रके प्रत्येक वचन पर दृढ़ विश्वासरूप विशिष्ट प्रकार के सद्भाव को 'दर्शन' समझना चाहिये। इस 'समकित' शब्द के बतलाये अर्थ को दृढ़ करने के लिये महाबल नामक राजकुमार का दृष्टांत बतलाया जाता है:—

समकित पर महाबल राजकुमार का दृष्टान्त।

हस्तिनापुर में बल नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम प्रभावती था। इस राणी ने सिंह के स्वप्न सूचित एक शूरवीर पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम महाबल रखा गया। उस राजकुमार के अनुक्रम से युवावस्था में आने पर भोग भोगने हेतु समर्थ समझ कर राजा ने एक दिन उसका आठ राजकन्याओं के साथ विवाह किया और उन आठों स्त्रियों के लिये राजा ने आठ स्वर्ण महल बनवाये। उन स्त्रियों को उनके पिताओं ने भी प्रेमपूर्वक आठ करोड़ मोहरें; आठ करोड़ रुपये, आठ मुकुट, आठ जोड़ी कुण्डल, आठ नन्दावर्त तथा सर्व प्रकार के रत्नमय आठ भद्रासन आदि अनेक वस्तुएँ प्रदान कीं। (यह गाथा श्रीभगवतीसूत्र में है)। उन आठों स्त्रियों के साथ भोग-विलास करते महाबलकुमार को बहुत समय व्यतीत हुआ। एक बार श्रीविमलनाथस्वामी के संतानिये धर्मघोष नामक सूरि पांच सो मुनि के परिवार सहित हस्तिनापुर के उद्यान में पधारे। उनके आगमन की सूचना पाकर अन्य जन समुदाय के साथ वह राज-

कुमार भी अपनी सर्व समृद्धि सहित उनको वन्दना कर राजकुमार योग्य स्थान पर बैठ गया। उस समय मुनीश्वर ने देशना की कि:-

"असारमेव संसार-स्वरूपमिति चेतसि ।
विभाव्य शिवदे धर्मे, यत्नं कुरुत हे जनाः ॥ १ ॥"

भावार्थ:—हे भव्यजनों! इस संसार को असार जानकर मोक्षप्रदान करनेवाले धर्म के लिए यत्न करो।

सर्व धर्मकृत्यों का मूल समकित है, जो देव, गुरु तत्व के विषय में सम्यक् श्रद्धा होने से प्राप्त होता है। अणुव्रत, महाव्रत, दान, जिनपूजा, क्रिया, जप, ध्यान, तप, सर्वशास्त्राभ्यास, तीर्थ-यात्रा और गुणोपार्जन ये सब समकित सहित होने पर ही मोक्ष प्राप्ति में साधक हो सकते हैं, अतः सर्व प्रथम उसका आश्रय लेना चाहिये। इस प्रकार गुरुमुख से देशना पाकर वैराग्य उत्पन्न हुए महाबलकुमार ने कहा—'हे भगवंत! मैं अरिहंत द्वारा निर्देशित मार्ग का हर्षपूर्वक अनुसरण करता हूँ, अतः अपने माता-पिता की अनुमति लेकर आपके पास दीक्षा अंगीकार करूंगा।" आचार्य ने कहा कि "हे वत्स! धर्मकार्य में प्रतिबन्ध नहीं करना चाहिये।" तत्पश्चात् महाबलकुमार ने घर जाकर अपने मातापिता को प्रणाम कर कहा कि "यदि आपकी आज्ञा हो तो मेरी धर्मघोष आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण करने की अभि-लाषा है।" इसको सुनकर उन्होंने उत्तर दिया कि "हे वत्स!

तुम हमको प्राणों से अधिक प्रिय हो, तुम्हारा वियोग हम एक क्षण-भर के लिये भी सहने में असमर्थ हैं, अतः तुम ऐसे शब्द कभी अपने मुख से न निकालो। हे पुत्र! जब तक हम जीवित हैं तब तक तुम घर में ही रहो।" इन शब्दों को सुनकर कुमार ने माता से कहा कि "हे माता! पहले कौन मृत्यु को प्राप्त होगा और पश्चात् कौन? इसको जब कोई नहीं जान सकता तो फिर उत्तम यही है कि मुझे चारित्रग्रहण करने की आज्ञा प्रदान कीजिये कि जिससे तुम्हारी कुक्षि से प्राप्त मनुष्य जन्म को मैं सार्थक बना सकूं। जिस प्रकार पूर्व अनन्तभवों में होनेवाली मेरी अनन्त मातायें बिना अङ्क के शून्य समान निष्फल हुई हैं उस प्रकार तुम भी निष्फल न हो। तुम तो शुभ अङ्क (एक दो आदि) की तरह सार्थक हो सको।" इस प्रकार कुमार के आग्रह को त्याग करने में असमर्थ होनेपर उसके मातापिता मूक रह गये।

एक समय राजा ने महाबलकुमार को स्नेहपूर्वक अपने राज्यासन पर बैठा कर स्वर्ण, रूपा, रत्न और मिट्टी आदि के एक सो आठ आठ कलशों द्वारा राज्याभिषेक किया और बोला कि "हे वत्स! कहो कि अब हम को क्या करना चाहिये?" कुमार ने उत्तर दिया कि 'हे पिता! अपने कोष में से तीन लाख मोहरें लेकर उनमें से एक लाख मोहरें देकर मेरे लिए कुत्रिकापण[1] से

---

[1] देवी दुकान, कि जिस में तीन भुवन की प्रत्येक वस्तु प्राप्त हो सकती थी।

[illegible]

[illegible] ([illegible]) [illegible]
[illegible]
[illegible]
तदनन्तर राजा ने भी [illegible] के कहने अनुसार [illegible] किया। तत्पश्चात्
कुमार ने स्नान कर, [illegible] पहिन कर, सर्व
उत्तम अलंकार धारण कर, हजार मनुष्यों द्वारा उठाई जानेवाली
शिविका में आरूढ़ होकर गुरु के पास प्रस्थान किया। उस समय
उनके मातापिता ने कुमार से कहा कि "हे पुत्र! ऐसे दुर्लभ
चारित्र को ग्रहण करने का पूरा यत्न करना।" इस प्रकार कह कर
आचार्य को प्रणाम कर वे वापस अपने नगर को लौट गये।

तत्पश्चात महाबलकुमार ने अपने हाथों से पंच मुष्टि लोच
कर गुरु द्वारा दीक्षा ग्रहण की।

तीन गुप्ति और पांच समिति युक्त महाबल मुनि ने विनय-
पूर्वक चौदह पूर्व का अभ्यास किया, विविध प्रकार की तपस्या की
और बारह वर्ष पर्यन्त अस्खलित चारित्र का पालन कर, सर्व पापों
की आलोचना कर तथा प्रतिक्रम से एक मास का अनशन कर
कालधर्म को प्राप्त हो कर ब्रह्म नामक पांचवें देवलोक में दश
सागरोपम की स्थिति (आयुष्य) वाले देव हुए।

चौदहपूर्वी जघन्य से भी लांतक नामक छट्टे देवलोक में
जाते हैं फिर भी यहां महाबल मुनि का पांचवे देवलोक में जाना

कहा गया है जिसका कारण बुद्ध विस्मरण आदि हेतु से चौदह-पूर्व से न्यून ज्ञान होना ऐसा प्रतीत होता है।

वहां के आयुष्य को पूरा कर महाबल मुनि का जीव वाणिज्य नामक ग्राम में किसी बड़े श्रेष्ठी के घर में सुदर्शन नामक पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। अनुक्रम से युवावस्था को प्राप्त करने पर एक समय उस पुर के उद्यान में पधारे हुए श्रीमहावीरस्वामी के चरणकमल को वन्दना करने के लिये वह भी वहां गया। वहां पर श्रीमहावीरस्वामी सर्व जीवों के हित के लिये समय से लगा कर सर्व काल के स्वरूप का निरूपण कर रहे थे। उसको सुन कर विस्मय से भरे हुए सुदर्शन श्रेष्ठी ने प्रभु से पूछा कि 'हे भगवन्! काल कितने प्रकार का है?" स्वामी ने उत्तर दिया कि "हे सुदर्शन! काल चार प्रकार का है। प्रमाणकाल, यथायुनिवृत्तिकाल, मृत्युकाल और अद्धाकाल।" "हे स्वामी! प्रमाणकाल किसे कहते हैं?" "प्रमाणकाल दो प्रकार का है। चार पहर का दिन और चार पहर की रात्रि आदि।' "हे स्वामी! यथायुनिवृत्ति काल किसे कहते हैं?" 'हे सुदर्शन! नारकी जीव तथा देवतागण ने जिस प्रमाण में आयुष्य बांधा होगा उसही प्रमाण में पूरा पूरा वे भोगेंगे इसको यथायुनिवृत्तिकाल कहते हैं।" 'हे स्वामी! मृत्यु-काल किसे कहते हैं?" "हे श्रेष्ठी! जीव शरीर से अलग होना अथवा शरीर का जीव से पृथक होना मृत्युकाल कहलाता है।" "हे भगवन्! अद्धाकाल किसे कहते हैं?" "हे श्रेष्ठी! अद्धाकाल

व्याख्यान ३

समकित प्राप्ति के दो हेतु ।

तीर्थंकृत्प्रोक्ततत्त्वेषु, रुचि सम्यक्त्वमुच्यते ।
लभ्यते तत्स्वभावेन, गुरूपदेशतोऽथवा ॥ १ ॥

भावार्थः—तीर्थंकर द्वारा कहे गये तत्त्वों के विषय में रुचि-श्रद्धा रखना सम्यक्त्व-समकित कहलाता है। यह समकित स्वभाव से अथवा गुरु के उपदेश से दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है।

तीर्थंकर ने जो तत्त्व बतलाये हैं उनमें रुचि-श्रद्धा होना समकित अर्थात् सम्यक्श्रद्धा कहलाता है। श्रद्धा बिना ज्ञान मात्र से ही फलसिद्धि नहीं हो सकती। तत्त्वज्ञ भी यदि श्रद्धारहित हों तो वे भी आत्महित लक्षणफल को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। श्रुतज्ञान के धारक होनेपर भी अंगारमर्दक आचार्य जैसे अभव्य और दूसरे दूरभव्य प्राणी जगत के निष्कारण वत्सल ऐसे जिनेश्वर के कहे तत्त्वों पर श्रद्धा रहित होने से शास्त्रोक्त तथाप्रकार के आत्महितरूप फल को प्राप्त नहीं कर सके ऐसा शास्त्रों से जाना जाता है।

समकित दो प्रकार से प्राप्त हो सकता है। एक स्वभाव से और दूसरा गुरु के उपदेश से। स्वभाव से अर्थात् गुरु आदि

के उपदेश की अपेक्षारहित स्वाभाविक क्षयोपशम से प्राप्त होता है और उपदेश अर्थात् गुरुद्वारा कहे गये धर्मोपदेशक के श्रवण करने से प्राप्त होता है।

इस अनादिकाल से चले आते संसाररूपी सागर में पड़ा हुआ प्राणी भव्यत्व के परिपाक के कारण पर्वत पर से नदी में पड़े हुए पत्थर[१] के समान यथाभोगपन से यथाप्रवृत्तिकरण करता है। अध्यवसाय विशेषरूप से यथाप्रवृत्तिकरण से एक आयुकर्म विना दूसरे ज्ञानावरणादिक सात कर्मों को पल्योपम के असंख्यातवें भाग से न्यून ऐसे एक सागरोपम कोटाकोटी की स्थितिवाला बना देता है। यहां से जीव को कर्म से उत्पन्न हुए अत्यन्त विषम रागद्वेष के परिणामस्वरूप कर्कश एवं दुर्भेदी ग्रंथि प्राप्त होती है। इस ग्रंथि तक अभव्य जीव अनंतीवार आते हैं और उनको यथाप्रवृत्तिकरण के कारण ग्रंथिप्रदेश प्राप्त होने पर अरिहंत की विभूति के देखने से शुभ भाव में वर्तते हुए श्रुतसामायिक का लाभ प्राप्त होता है किन्तु दूसरा किसी भी प्रकार का आत्मिक लाभ नहीं होता और उस ग्रंथि को प्राप्त कर कोई भव्य प्राणी परम विशुद्धि से ग्रन्थि का भेद करने को अपूर्वकरण[२] करके मिथ्यात्व की स्थिति जो अनन्तः कोटाकोटी की है उसमें से अन्त-

---

१ वह पत्थर लुढ़कता हुआ गोल आकार का हो जाता है।

२ ये करण पहिले कभी भी नहीं करने से इसका नाम अपूर्वकरण हुआ।

मुहूर्त काल तक उसके ऊपरके प्रदेश से भी वेदना प्राप्त न हो ऐसा अन्तरकरण करता है। तीन करण का अनुक्रम इस प्रकार है—

जा गंठी ता पढमं, गंठीसमइच्छेयओ भवे बीयं ।
अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥ १ ॥

भावार्थः—ग्रन्थि तक आवे तब प्रथम करण (यथाप्रवृत्ति) होता है, ग्रन्थि का छेद करे तब दूसरा करण (अपूर्व) होता है और यह जीव समकित के समीप पहुँचे अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्ति के समय तीसरा अनिवृत्तिकरण प्राप्त होता है।

यहां मिथ्यात्व की स्थिति के दो विभाग होते हैं। इसमें से पहले अन्तर्मुहूर्तप्रमाण स्थिति को भोगकर दूसरी उपशमन की हुई स्थिति में अन्तर्करण के प्रथम समय जीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। कहा भी है:—

आन्तर्मौहूर्तिकं सम्यग्दर्शनं प्राप्नुवन्ति यत् ।
निसर्गहेतुकमिदं, सम्यक्श्रद्धानमुच्यते ॥ १ ॥

भावार्थः—भव्य के अन्तर्मुहूर्त में जो समकित प्राप्त होता है वह सम्यक् श्रद्धावाला निसर्ग समकित कहलाता है।

गुरूपदेशमालंब्य, प्रादुर्भवति देहिनाम् ।
यत्तु सम्यग्श्रद्धानं, तत्स्यादधिगमजं परम् ॥ २ ॥

गये और बोले कि-हे भद्र ! तू कुशल तो है ? हे भाई ! इस खेती द्वारा अनेकों द्वीन्द्रिय आदि जीवों का वध कर क्यों वृथा पापों का उपार्जन करता है ? पापी कुटुम्ब के पोषण के लिये ऐसे कर्म करके तू अपनी आत्मा को अनर्थ में क्यों डालता है ? सुन —

संसारमावन्न परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उवेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उविंति ॥ १ ॥

भावार्थः—जो मनुष्य संसार में आकर दूसरों के लिये अर्थात् कुटुम्बियों आदि के लिये खेती आदि साधारण कर्म करता है; उस मनुष्य को ही उन कर्मों का विपाक उदय होने पर उसके फल स्वयं भोगने पड़ते हैं। उस समय उसके बांधव उन फलों को भोगने के लिये नहीं आते हैं।

अतः हे भाई ! तपस्या (चारित्र) रूपी वाहन का आश्रय लेकर इस भवसमुद्र को तैरने का प्रयत्न कर। इस प्रकार कहे हुए गौतमस्वामी के वचनामृत से आर्द्र हुआ वह कृषक बोला कि-हे स्वामी ! मैं जाति से ब्राह्मण हूँ। मेरे सात पुत्र हैं। उन सब के दुष्कर उदर की पूर्ति करने के लिये मैं अनेक पापकर्म करता हूँ। अब आजसे ही आप मेरे बंधु एवं माता के समान हो। आप जो आज्ञा देंगे मैं उसका पालन करुंगा। आपके वचनों की कभी

अवहेलना नहीं करूंगा। यह सुनकर गौतमस्वामी ने उसको साधुवेष दिया जिसको उसने तत्काल स्वीकृत किया। फिर उस कृषीवल साधु को साथ लेकर जब गौतमस्वामी प्रभु के पास जाने लगे तो वह बोला कि-हे पूज्य! हमको कहां जाना है? गौतमस्वामी ने जवाब दिया कि-हमको अपने पूज्य गुरु के पास जाना है। यह सुनकर कृषक बोला कि-आप सुर असुर के भी पूज्य हैं फिर जब आपके भी पूज्यगुरु हैं तो वे कैसे होंगे? इस पर गौतमस्वामी ने कृषक को भगवान के गुण बतलाये जिनको सुनकर उसको शीघ्र ही समकित की प्राप्ति हो गई। आगे बढ़ने पर तीर्थंकर के अद्भुत अतिशयों की समृद्धि देखकर उसने समकित को विशेषतया दृढ़ किया। अन्त में जब परिवार सहित श्रीवीरस्वामी को उसने साक्षात् देखा तो उसने मन में प्रभु पर द्वेष हुआ। श्रीगौतमगणधर ने उस कृषक को कहा कि-हे मुनि! श्रीजिनेश्वर को वन्दना करो। तो उसने उत्तर दिया कि-"हे महाराज! जो ये आपके गुरु हैं तो मुझे इस प्रव्रज्या से कोई प्रयोजन नहीं, आपका शिष्य होना ही बस है। यह आपका वेष संभालिये, मैं तो अपने घर जाउंगा।" ऐसा कह कर वह साधुवेष का त्याग कर मुठी बांध कर भाग गया। उस समय उस कृषक की ऐसी चेष्टा देख कर इन्द्र आदि सब हँसते हँसते बोले कि-अहो! गौतम गणधर को शिष्य तो बहुत अच्छा मिला। ऐसी अद्भुत स्थिति देख कर गौतम गणधर ने लज्जित होकर भगवान से

इसके वैर का कारण पूछा । भगवान ने कहा कि-हे वत्स गौतम ! इस कृषक ने तुम्हारे अरिहंत के बताये गुणों का चिंतवन करने से ग्रन्थिभेद किया है जिससे तुम को तथा इसको बड़ा भारी लाभ हुआ है लेकिन अब मुझको देख कर जो इसको द्वेष उत्पन्न हुआ है इसका कारण बतलाता हूं सो ध्यानपूर्वक सुनिये:—

पूर्व भव में मैं पोतनपुर नगर में प्रजापति राजा का पुत्र त्रिपृष्ठ वासुदेव था। उस समय तीन खंड का स्वामी अश्वग्रीव नामक प्रतिवासुदेव था। एक समय सभा में बैठे हुए अश्वग्रीव राजा ने किसी निमित्तिये से अपने मरण के विषय में प्रश्न किया। तो उस निमित्तिये ने उत्तर दिया कि-तुम्हारी मृत्यु त्रिपृष्ठ के हाथ से होगी। यह सुन कर अश्वग्रीव राजा त्रिपृष्ठ पर द्वेष रख कर निरन्तर उस को मारने का उपाय करने लगा, किन्तु उसके सब उपाय निष्फल हुए। उस अश्वग्रीव के पुरोद्यान में एक शालिक्षेत्र था उसमें आकर एक सिंह निरन्तर अनेक मनुष्यों पर उपद्रव करता था, लेकिन उस सिंह को मारने में कोई समर्थ नहीं था। इससे उस शालिक्षेत्र की रक्षा के लिये अश्वग्रीव ने अपने आधीन सब राजाओं को आज्ञा दी कि-बारी बारी से एक एक राजा उस क्षेत्र की रक्षा के लिये आता रहे। इस प्रकार आते आते एक बार प्रजापति राजा की बारी आई। उस समय त्रिपृष्ठ कुमार ने अपने पिता को जाने से रोक कर वह स्वयं ही उस उपद्रव को रोकने के लिये केवल एक सारथी को ही साथ लेकर रथारूढ़

होकर वहां गया। शालिक्षेत्र के समीप जाकर उसने सिंह को ललकारा। सिंह शीघ्र ही त्रिपृष्ठ पर गर्ज कर टूट पड़ा किन्तु त्रिपृष्ठ ने उसके दोनों होठों को पकड़ कर शुक्तिसंपुट की तरह चीर डाला। उस समय मरते हुए सिंह ने अपनी खुद की निन्दा की कि–अहो ! मैं सिंह होते हुए भी एक मनुष्य मात्र के हाथ से ही मारा गया। उसको खेद प्रगट करते देख कर त्रिपृष्ठ के सारथी ने उसको शान्त करने के लिये मधुर वाणी से कहा कि हे सिंह ! ये कुमार वासुदेव होनेवाले हैं, इनको तू एक रंक मनुष्य न समझ। अरे तू तो नरेन्द्र के हाथ से मारा गया है, फिर शोक किस लिये करता है ? मनुष्य लोक में ये त्रिपृष्ठकुमार ही एक सिंह है और तू तिर्यञ्च योनी में उत्पन्न हुआ सिंह है। इस प्रकार के शान्तिदायक शब्द सुन कर हर्षित हुए उस सिंह ने समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त की।

तत्पश्चात् उन त्रिपृष्ठ, सारथि और सिंह तीनों के जीव भवसागर में भ्रमण करते हुए इस समय में त्रिपृष्ठ का जीव तो मैं हुआ हूँ, सिंह का जीव वह कृपिवल हुआ है और सारथि का जीव तू इन्द्रभुति (गौतम) हुआ है। पूर्वभव में तूने मधुर वाणी द्वारा उसको प्रसन्न किया था और मैंने मारा था, अतः इस भव में उसका तुम्हारे प्रति स्नेह है और मुझ पर द्वेष है। इसी प्रकार इस भव नाटक में स्नेह और वैर का कारण समझना चाहिये किन्तु वह कृषक शुक्लपक्षी हुआ है। अर्थात् जिस जीव के लिये

अर्द्धपुद्गलपरावर्तन संसार शेष रहा हो उसे शुक्लपक्षी कहते हैं और जिसके इससे अधिक संसार शेष हो उसे कृष्णपक्षी कहते हैं।

भगवन्त के मुख से इस प्रकार सुनकर कई प्राणियों ने समकित को प्राप्त किया ।

हे गौतम ! तुमसे केवल दो घड़ी के लिये समकित पाया हुआ वह कृपक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन के अन्दर मोक्षपद प्राप्त करेगा इसीलिये मैंने उसे प्रतिबोध देने के लिये तुम्हें भेजा था। इस प्रकार उस कृपक का वृत्तान्त सुन कर इन्द्र आदि समकित में सुदृढ़ हुए। अतः हे भव्य प्राणियों ! तुम्हें भी चित्त में समकित को चिरकाल पर्यन्त स्थिर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्थंभे तृतीयं व्याख्यानम् ॥ ३ ॥

——:०:——

व्याख्यान ४

समकित के तीन भेद ।

समकित को ज्ञान चारित्र से भी अधिक कहा गया है जो इस प्रकार हैः—

श्लाघ्यं हि चरणज्ञानवियुक्तमपि दर्शनम् ।
न पुनर्ज्ञानचारित्रे, मिथ्यात्वविषदूषिते ॥ १ ॥

उवसामगम्मि सेढिगयस्स होइ
उवसमिश्रं तु सम्मत्तं ।
जो वा अकयतिपुञ्जो अखविय-
मिच्छो लहइ सम्मं ॥ १ ॥

भावार्थः—उपशमश्रेणि पर आरूढ होनेवाले को औपशमिक समकित प्राप्त होता है अथवा जिसने तीन पुञ्ज नहीं किये हो और मिथ्यात्व नहीं खपाया हो उसको यह समकित प्राप्त होता है।

मिथ्यात्व मोहनी तथा अनंतानुबंधी कषाय की चोकड़ी इसमें उदय हुई हो तो उसका देश से निर्मूल नाश कर डालती है और उपशम दोनों से युक्त जो समकित है उसको क्षयोपशमिक कहते हैं। इस समकित की बासठ सागरोपम की स्थिति बतलाई गई है।

तीसरा क्षायिक समकित है अर्थात् जिसमें समकित मोहनी, मिथ्यात्व मोहनी और मिश्रमोहनी तथा अनन्तानुबंधी चार कषाय इन सात प्रकृति का निर्मूल नाश हो जाता है। यह क्षायिक समकित आदि अनन्त स्थितिवाला होता है क्योंकि यह आने पर फिर वापस नहीं जाता। इस क्षायिक समकित के प्रभाव से ही श्रेणिक राजा ने तीर्थंकरनामकर्म का उपार्जन किया। इस विषय में कहा है कि:—

हुए पानी से भरे एक सोते का पानी पीने से उनकी व्याधि का नाश हो गया तब वह पीछे अपने घर को गया और अपने पुत्रों से कहने लगा कि-तुमने मेरा अपमान किया था जिससे तुम को उसका यह फल मिल गया है परन्तु मैं व्याधि रहित हो गया हूं। यह सब वृत्तान्त सुनकर पुरवासियों ने उस ब्राह्मण को निन्दित कर वहां से निकाल दिया। वह वहां से चल कर राजगृह नगर में आया और द्वार पर आकर बैठ रहा। इस बीच मेरा जब यहां समवसरण हुआ तब मुझे वन्दना करने का उत्सुक द्वारपाल उस सेडुक ब्राह्मण को दरवाजे पर चौकी देने के लिए रख कर समवसरण में आया। पीछे से उस ब्राह्मण ने पुरदेव के पास जो वड़ा, पकान्न आदि अनेक नैवेद्य पुरजनों ने रखे थे उनको खूब ठांस ठांस कर खाया और बाद में अत्यन्त तृषा से आतुर हो कर वह पानी पानी चिल्लाता हुआ मृत्यु को प्राप्त होकर उसी दरवाजे के पास एक वाव में मेंढ़क हुआ।

एक बार फिर हमारा समवसरण इसी स्थान पर हुआ, उस समय मुझे वन्दना करने की उत्कंठावाली पानी भरनेवाली स्त्रियों के मुख से हमारा आगमन सुन कर उस मेंढ़क को जाति-स्मरण ज्ञान हुआ, इससे वह मेंढ़क मुझको वंदना करने के निमित्त वाव में से बाहर निकल कर मार्ग में कूदता कूदता आ रहा था। उस समय तुम भी उसी रास्ते से यहां आरहे थे, अतः तुम्हारे घोड़े के पैर के नीचे कुचला जाने से वह मेंढ़क मेरे ध्यान

राजा ने अपने महल में आ कर कपिला दासी को बुला कर कहा कि—तू मुनि को अपने हाथ से दान दे। उसने उत्तर दिया कि—हे स्वामी! मुझे ऐसी आज्ञा न दीजिये, मैं दान नहीं दे सकती। आप हुक्म देवें तो मैं अग्नि में कूद पड़ूँ, विष खा लूँ, परन्तु यह कार्य मुझ से नहीं हो सकता। इसके ऐसे वचन सुन कर कालसौकरिक को बुला कर उसे कहा कि—तू केवल एक दिन के लिये ही पाड़ों का वध करना छोड़ दे। उसने उत्तर दिया कि—हे स्वामी! मैं तो जन्म से प्रत्येक दिन पांचसौ पाड़ों का वध करता हूँ उसे मैं नहीं छोड़ सकता। मेरे आयुष्य का अधिक भाग व्यतीत हो चुका है, अब थोड़ा सा शेष रहा है, अतः अब इस थोड़े से जीवन के लिये अपना पथ क्यों छोड़ूँ? और किस प्रकार छोड़ूँ? बड़े समुद्र को पार कर अब छोटे से नाले में कौन डूबे? यह सुन कर राजा ने हंसते हुए उसको एक अन्ध कूप में डाल दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल में राजा प्रभु के पास जा कर उनको वन्दना कर बोला कि—हे प्रभु! मैंने कालसौकरिक को पाड़ों का वध करने से एक दिन के लिये रोक दिया है। इस पर प्रभु ने उत्तर दिया कि—उस कालसौकरिक ने तो कुएँ में रहते हुए भी मिट्टी के पांच सौ पाड़े बना कर उनका वध किया है। यह सुन कर राजा ने जिनेश्वर से कहा कि—हे नाथ! कृपानिधि! मैं आप जैसे का शरण छोड़ कर अब किस की शरण में जाऊँ? जिनेन्द्र बोले कि—हे वत्स! खेद न कर, तू समकित के

प्रभाव से इस भव से तीसरे भव में मेरे जैसा पद्मनाभ नामक तीर्थंकर होनेवाला है। (इस स्थान पर बहुत अधिक विस्तार है जिसका वर्णन उपदेशकंदली नामक ग्रन्थ में से पढ़िये)। यह सुन कर राजा श्रेणिक हर्षित हो अपने नगर में आकर निरन्तर धर्मकृत्य करने लगे। वह तीनों काल जिनेश्वर की पूजा करते और हमेशा जिनेश्वर के सन्मुख एक सो आठ स्वर्ण के चावल-कणों से साथिया बनाते परन्तु स्वयम्भूरमण समुद्र के मत्स्य भक्षण करने के त्याग जितना भी वह नियम नहीं ले सके। ऐसे विरति रहित होने पर भी क्षायिक समकित के बल से वह बहोतर वर्ष की आयुष्य और सात हाथ की ऊंचाई वाले श्रीमहावीर प्रभु के समान ही आनेवाली चोवीसी में प्रथम तीर्थंकर होंगे।

श्रेणिक राजा का जीव पहली नरक में चोरासी हजार वर्ष की आयुष्य भोग कर शुभ भाव के कारण क्षायिक समकित के प्रभाव से तीर्थंकरत्व को प्राप्त होगा।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्थंभे
चतुर्थं व्याख्यानम् ॥ ४ ॥

व्याख्यान ५

समकित के सड़सठ भेद कहे गये हैं। उनमें चार श्रद्धा के भेदों में से परमार्थसंस्तव नामक प्रथम श्रद्धा का स्वरूप कहते हैं:—

जीवाजीवादितत्त्वानां, सदादिसप्तभिः पदैः ।
शश्वच्चिन्तनं चित्ते, सा श्रद्धा प्रथमा भवेत् ॥ १ ॥

भावार्थः—जीव, अजीव आदि तत्त्वों का सत् आदि सात पदोंद्वारा चित्त में निरन्तर चिंतवन करना प्रथम श्रद्धा कहलाती है।

प्राणों को धारण करनेवाले को जीव कहते हैं और इसके विपरीत प्राण रहित को अजीव कहते हैं। मूल श्लोक में जीव, अजीव आदि तत्त्व, ऐसा कहा गया है इसलिये आदि शब्द से पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये सात तत्त्व समझने चाहिये। इन तत्त्वों का अस्तित्व, संख्या, क्षेत्रस्पर्श, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन सात स्थानों द्वारा निरन्तर मन में चिन्तवन करना परमार्थसंस्तव नामक समकित की पहली श्रद्धा कहलाती है। इसका दूसरा नाम परमरहस्य परिचयपन भी कहा गया है।

अङ्गारमर्दक आचार्य आदि को भी परमार्थसंस्तव आदि का तो सम्भव है ऐसी यदि कोई शंका करे तो वह शंका करने योग्य नहीं है, क्योंकि इस श्रद्धा में केवल तात्त्विक श्रद्धावाले को ही अधिकारी गिना गया है और अङ्गारमर्दक जैसे मिथ्यात्वी में तात्त्विक श्रद्धा की बिलकुल सम्भावना नहीं थी। इस पहली श्रद्धा पर अभयकुमार का दृष्टान्त उपलब्ध है:—

अभयकुमार का दृष्टान्त ।

(Seal) लगा दी तथा मिट्टी के कोरे घड़ों में पानी भर कर उन पर भी (Seal) मोहरछाप लगादी गई। फिर उन टोकरों और उन घड़ों को कुमारों को देकर राजा ने उन्हें कहा कि-तुम इन (Seals) को तोड़े बिना टोकरों में से पक्वान खाओ और घड़ों में से पानी पीओ। ऐसा कह कर उनको एकान्त स्थल में रखा। सर्व कुमारों को भूख लगी किन्तु इन्हें खाने का कोई उपाय नहीं सूझा। यह देख कर श्रेणिक ने टोकरों को हिला हिला कर उनकी बांस की सलियों के छिद्रों में से पकान्न का चूरा निकाल कर तथा घड़ों पर कपड़े डाल कर भीगे हुए वस्त्रों को निचोड़ निचोड़ कर सर्व कुमारों को तृप्त किया। यह हकीकत सुन कर राजा, अन्तःकरण में श्रेणिक की बुद्धि से प्रसन्न हुए किन्तु बाह्य भाव से निन्दा की कि पकान्न का चूरा कर राख की तरह खाया अतः इसकी बुद्धि को राख के समान ही समझना चाहिये।

एक बार राजमहलों में अग्नि लगी। उस समय राजा ने कुमारों को आज्ञा दी कि-जिन से जो चीज ले जाई जा सके, ले जाओ। यह सुन कर सब कुमार मणि, माणिक्य आदि जवाहिर ले आये किन्तु श्रेणिक ने राजा के जय के प्रथम चिन्हरूप भंभा को लिया। यह सुनकर भी राजा ने श्रेणिक की निन्दा की और उसका भंभसार नाम रक्खा।

तत्पश्चात् राजा ने श्रेणिक के अतिरिक्त अन्य कुमारों को भिन्न भिन्न देश दिये किन्तु श्रेणिक को कुछ भी नहीं दिया।

[illegible] श्रेणिक [illegible]
गया। [illegible] नगर में पहुंचा।
उस नगर में प्रवेश कर श्रेणिक किसी भद्र नामक श्रेष्ठी की
दुकान पर बैठ गया। उस दिन श्रेणिक के पुण्य प्रभाव से उस
श्रेष्ठी को व्यापार में बहुत लाभ हुआ। इसलिये उसने श्रेणिक से
पूछा कि-हे पुण्यशालिन्! आज आप किसके यहां अतिथि होंगे?
श्रेणिक ने हँसी में ही उत्तर दिया कि-आपके यहां ही। यह
सुनकर श्रेष्ठी ने अत्यन्त प्रसन्न हो कर विचार किया कि-आज
जो मैंने स्वप्न में अपनी पुत्री के लिये योग्य वर देखा था वही
यह जान पड़ता है इसलिये बहुत ही अच्छा हुआ। यह विचार
कर श्रेष्ठी अपनी दुकान बन्द कर श्रेणिक को अपने साथ घ
पर ले गया। वहां उसने गौरव के योग्य श्रेणिक की भोजनादि
से अच्छी महमानदारी की। फिर अपने कुटुम्बीजनों को बुल
कर श्रेष्ठी ने बड़े भारी महोत्सव सहित विधिपूर्वक अपनी पु
सुनंदा का विवाह श्रेणिक के साथ कर दिया कुछ समय बा
सुनन्दा गर्भवती हुई। उस समय उसे उत्पन्न हुए दोहदों जैसे जि
पूजा करना, हाथी पर बैठना और अहिंसा का पटह (अमारी पड़
बजवाना आदि को श्रेणिक ने पूर्ण किया।

इस ओर राजगृह नगरी में प्रसेनजित राजा श्रेणिक
चले जाने से अत्यन्त दुखी हो कर उसकी खोज करने लग
किसी आये हुए सार्थ के मुख से उसने सुना कि-श्रेणिक बेना

नगर में है। इस बीच प्रसेनजित राजा की आयुष्य का अन्त करनेवाली व्याधि उत्पन्न हुई। इससे अपनी मृत्यु समीप आई जानकर उसने श्रेणिक को शीघ्रता बुलाने के लिये राजसेवकों को ऊँट पर बिठा कर वेनातट की ओर भेजा। उन्हों ने श्रेणिक के पास पहुँच कर उनको राजा की अस्वस्थिति कही, जिनको सुनकर श्रेणिक ने सुनन्दा से कहा कि हे प्रिये! मैं अपने पिता के पास जाता हूँ, तुम्हारा तो अभी यहीं पर रहना उचित है। इसलिये यहीं पर रहो। यदि तुम्हारे इस गर्भ से पुत्र उत्पन्न हो तो उसका नाम अभय रखना। यह सुनकर सुनन्दा ने कहा कि— जब यह पुत्र आठ वर्ष की आयु का हो और मुझे अपने पिता का पता पूछे तब मैं क्या उत्तर दूं? यह सुन कर श्रेणिक ने खड़िया (Chalk) से भारवट पर इस प्रकार अक्षर लिखे कि—

"राजगृहे पालिगान गोवालि धवले टोडे पर कहीया"

राजगृह नगर में हम उस गांव के गवाल (राजा) हैं और उज्ज्वल टोडावाला (राजमहल) हमारा घर है इस प्रकार कहना।

इस विषय में धर्मोपदेशमाला में निम्न लिखित श्लोक है:—

गोपालकाः पाण्डुरकुड्यवन्तो,
वयं पुरे राजगृहे वसामः।

अपने हाथ द्वारा ले लेगा वही सब मंत्रियों में अग्रसर (मुख्य) मंत्री होगा। यह सुनकर सब मंत्रीगण तथा अनेक विचक्षण पुरुष उस कुएं के समीप आकर उस मुद्रिका को लेने का प्रयास करने लगे किन्तु सब निराश होकर खाली हाथों वापिस लौटे।

उधर वेनातट में सुनन्दा को गर्भकाल के पूर्ण होने पर एक पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम अभयकुमार रक्खा गया। वह कुमार अनुक्रम से बड़ा हुआ। उसको पाठशाला में विद्याध्ययन के लिये रक्खा गया। वहां वह सर्व कलाओं में निपुण हुआ। एक दिन उसके साथ पढ़नेवाले विद्यार्थियों से उसका झगड़ा हुआ जिसमें उन लड़कों ने उसको बिना बाप का लड़का होना कह कर हँसी उड़ाई। यह सुन कर अभय को बड़ा खेद हुआ। वह शीघ्र ही अपनी माता के पास पहुंचा और प्रश्न किया कि–हे माता! मेरे पिता कौन हैं? और कहां पर है? सुनन्दा ने कहा कि–हे वत्स! मैं नहीं जानती। कोई परदेशी मेरे साथ विवाह कर कुछ दिन समय तक यहां रह कर चला गया था परन्तु जाते समय उसने यहां भारवट पर कुछ अक्षर जरूर लिखे थे। यह सुन कर अभयकुमार ने भारवट के अक्षरों को पढ़ कर पिता का स्वरूप जान कर माता से कहा कि–हे माता! मेरे पिता तो राजगृह नगरी के राजा हैं, अतः अब हमको वहां जाना चाहिये। फिर भद्र श्रेष्ठी की अनुमति लेकर अभयकुमार अपनी माता को साथ लेकर राजगृह नगर के उद्यान में आया। वहां सुनन्दा को

बाहिर बिठा कर अभयकुमार ने गांव में प्रवेश किया। उपरोक्त कुएं के समीप आने पर बहुत से लोगों को वहां एकत्रित हुए देख कर अभयकुमार ने पूछा कि-यहां इतने लोग क्यों एकत्रित हो रहे हैं ? तब उन्होंने उसको मुद्रा का वृत्तान्त सुनाया। यह सुनकर कुमार ने उत्तर दिया कि-यह बात दुष्कर नहीं है, शीघ्र ही हो सकती है। यह कह कर उसने एक छाणे का पिंड (cow dung) उस मुद्रिका पर डाला, जिससे वह मुद्रिका उस पिंडे में चिपक गई। फिर जब वह कन्डा सूख गया तब उस जल रहित कुएं को जल से भर दिया जिससे वह सूखा कन्डा मुद्रिका सहित तैर कर ऊपर आ गया। अभयकुमार ने उसको अपने हाथ से निकाल लिया और उसमें चिपकी हुई अंगुठी को उखेड़ कर राजा के पास भेजा। यह वृत्तान्त सुन कर हर्षित हुआ राजा श्रेणिक स्वयं ही कुएं पर आया और कुमार को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। राजा ने कुमार को आलिंगनकर पूछा कि-हे वत्स ! तू किस ग्राम से आरहा है ? अथवा क्या तू इसी ग्राम में रहता है ? कुमार ने प्रणाम कर उत्तर दिया कि-हे स्वामी ! मैं बेनातट नाम के पुर में से आज ही यहां आया हूँ। राजा ने पूछा कि-वहां पर धन नामक श्रेष्ठी रहता है जिसके सुनन्दा नामक एक पुत्री है। क्या तू उसका कुछ वृत्तान्त जानता है। कुमार ने उत्तर दिया कि-हाँ उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ है जिसका नाम अभयकुमार रक्खा है। वह कुमार रूप, गुण एवं आयु में मेरे ही समान है। हे स्वामी ! मुझे देखकर यही समझिये कि मानों उसीको देखा

। इसके साथ मेरा प्रगाढ़ स्नेह है, इसके बिना मैं एक क्षण
भी अलग नहीं रह सकता। राजा ने प्रश्न किया कि–फिर इस
समय उसको छोड़ कर तू यहां किस प्रकार आया? कुमारने
उत्तर दिया कि–उसको और उसकी माता को यहीं समीपवर्ति
उद्यान में ही ठहरा कर मैं आया हूँ। यह सुनकर राजा उस कुमार
के साथ उद्यान में गया और अपनी प्रिया सुनन्दा से मिला।
राजा ने सुनन्दा से पूछा कि–उस समय जो तुझे गर्भ था वह
पुत्र कहां है?

सुनन्दा ने उत्तर दिया कि–हे प्राणनाथ! यह जो आपके
साथ आया है वही आपका पुत्र है। यह सुनकर राजा ने कुमार
से कहा कि–हे वत्स! तुमने मेरे सामने झूठ क्यों बोला? उसने
उत्तर दिया कि–मैं निरन्तर मेरी माता के हृदय में रहता हूँ इससे
मैंने वह उत्तर दिया था। यह सुनकर राजा ने हर्षित होकर कुमार
को अपनी गोद में बिठाया। तत्पश्चात् राजा ने अति आनन्द-
पूर्वक ध्वज तोरण से शृङ्गारित राजगृह नगर में सुनन्दा का
प्रवेश कराया और अभयकुमार को चार सो नवाणु मंत्रियों पर
प्रधान मंत्री का पद प्रदान किया। बाद में बुद्धिशाली अभयकुमार
की सहायता से श्रेणिक राजा ने अनेक देशों को विजय किया।

एक बार श्रीमहावीरस्वामी राजगृह नगर के उपवन में
पधारे। उनको वन्दना करने के लिये अभयकुमार गया। वहां
अनेक देव, देवी, साधु, साध्वी आदि से व्याप्त भगवान की

पर्षदा में एक कृश गात्रवाले शान्त महर्षि को देखकर कुमार ने भगवान से पूछा कि–हे स्वामी! यह महर्षि कौन है? प्रभु ने उत्तर दिया कि–ये वीतभयपत्तन के नीतिमान राज उदायन हैं। ये राज्यावस्था में मुझे वन्दना करने के लिये आये थे, तब मैंने इस प्रकार धर्मोपदेश दिया था कि–संध्या के रंग सदृश, पानी के बुदबुदे जैसा और दर्भ के अग्रभाग पर ठहरे हुए ओस बिन्दु के समान यह जीवन चंचल है और युवावस्था नदी के वहाव के समान बहती है तो फिर पापी जीव! तुझे बोध क्यों नहीं होता? अहो! मुक्ति के सदृश सुख इस ससार में किसी भी स्थान पर उपलब्ध नहीं हो सकता है। इस विषय पर अंगारदाहक का दृष्टान्त विचारने योग्य है सो सुनिये।

अगारदाहक का दृष्टान्त।

कोई एक अंगार (कोयला) का व्यापारी लकड़ी को जला कर उसके कोयले बनाने के लिये एक जल का भरा घड़ा लेकर वन में गया। वहां काम करते करते तृषा लगने से वह खुद ही घड़े का सारा पानी पी गया परन्तु सिर पर सूर्य के प्रचण्ड ताप से व पास में कोयले बनाने के लिये जलाई हुई अग्नि के ताप से तथा लकड़ी के काटने के श्रम से वह अत्यन्त तृषातुर हुआ, और पानी न मिलने से मूर्छा खाकर निद्रावश हो गया। निद्रा में उसको स्वप्न आया जिसमें वह अपने घर का पानी पी गया। फिर अनुक्रम से सरोवर, कूए, नदी तथा अन्त में सर्व समुद्रों का

पानी पी गया तो भी उसकी तृषा शान्त नहीं हुई। फिर एक पुराने कुएं में जो थोड़ासा पानी था उसको निकालने के लिये उसने घास का पूला डोरी से बांधकर कुए में डाला और उस पूले को बाहर निकाल कर उसमें से टिपकते हुए जलबिन्दुओं को जीभ द्वारा चाटने लगा। जिसकी तृषा समुद्र के जल से भी शान्त नहीं हुई उसकी तृषा इस पूले में से झरते हुए जलकण से किस प्रकार नष्ट हो सकती है ?

इस दृष्टान्त का यह तात्पर्य है कि–स्वर्गादिक के अनेकों सुख भोग लेने के बाद भी जिसकी तृप्ति नहीं हुई उसको अल्प आयुष्यवाले मनुष्य देह के अल्प सुख से किस प्रकार तृप्ति हो सकती है ? जराद्वारा जर्जरित अङ्ग होने पर भी वह विषयसुख से तृप्त नहीं होता। इस प्रकार की हमारी वैराग्यमयी वाणी सुन कर उदायन राजा को प्रतिबोध होने से उसने तुरंत ही दीक्षा ग्रहण करली। इस चोवीशी में यह आखरी राजर्षि है। अब इस के बाद कोई भी राजा दीक्षा नहीं लेगा। यह राजर्षि इस भव में ही सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्षपद प्राप्त करेगा।

इस प्रकार के वृत्तान्त को सुनकर अभयकुमार ने अपने घर जाकर राजा श्रेणिक को कहा कि–हे स्वामी! आप की आज्ञा से मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ इसलिये आप कृपा कर मुझे चारित्र दिलाइये। क्योंकि हे पूज्य पिता! बड़े भारी पुण्य के उदय से आप जैसे जैनधर्मावलम्बी हितकारक पिता मिले हैं और साक्षात्

के वचन भगवान के मुख से सुनकर श्रेणिक राजा शीघ्रतया अपने घरकी ओर दौड़ा।

इधर अभयकुमार ने राजा की आज्ञा होने पर विचार किया कि-राजा ने मुझे आज्ञा तो दी है किन्तु यह कार्य सहसा करने से परिणाम में अत्यन्त दुःखदायी होगा। ऐसा सोच कर उसने अन्तःपुर के पास वाले घास के घरों को खाली करा जीव जंतु रहित देखकर जला दिया और भगवान के समवसरण की ओर चल दिया। मार्ग में श्रेणिकराजा सामने आते हुए मिले। उसने अभयकुमार को पूछा कि तूने क्या किया ? अभय ने उत्तर दिया कि-आप की आज्ञानुसार किया। यह सुनकर राजा ने क्रोध के आवेश में कहा कि-मेरी दृष्टि से दूर हट जा, मुझे अपना मुँह न दिखा ऐसा काम करने का साहस तेरे अतिरिक्त अन्य कौन मूर्ख करेगा ? यह सुन कर 'पिता की आज्ञा स्वीकार है' ऐसा कह कर अभयकुमार ने समवसरण में जाकर प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण करली।

इस तरफ राजा ने गांव में आकर देखा तो केवल घास के घर ही जलते हुए नजर आये, इससे उसने विचारा कि-अहो! अभय ने कपट कर मुझे छल लिया। उसने अवश्य दीक्षा ले ली होगी। ऐसा विचार कर वह मुट्ठी बांध वापिस दौड़ते हुए समवसरण में आये किन्तु वहां पर तो अभयकुमार को व्रत लेकर बैठे हुए देखा, इसलिये 'तूने मुझे छला' ऐसा कहकर श्रेणिक

राजा ने उसको वन्दना की, फिर क्षमा याचना कर घर गये। अभयमुनि प्रभु के पास रह कर, तपस्या कर, कालधर्म प्राप्त कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देवता बने।

इस प्रकार गुण के स्थानरूप अभयमंत्री ने परमार्थसंस्तव नाम की प्रथम श्रद्धा को सफल किया। अतः हे भव्यजीवों! यदि तुम्हें मुक्तिरूपी स्त्री को आलिंगन करने की अभिलाषा हो, तो तुम भी इसी प्रकार श्रद्धा को सफल करो।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्थंभे
पंचमं व्याख्यानम् ॥ ५ ॥

——:o:——

व्याख्यान ६

उत्तम प्रकार से परमार्थ को जाननेवाले मुनियों की सेवा करने रूप मुनिपर्युपास्ति नामक दूसरी श्रद्धा—

गीतार्थाः संयमैर्युक्तास्त्रिधा तेषां च सेवनम्।
द्वितीया सा भवेच्छ्रद्धा, या बोधे पुष्टिकारिणी ॥ १ ॥

भावार्थः—संयमयुक्त ऐसे गीतार्थ मुनियों की तीन प्रकार से सेवा करना दूसरी श्रद्धा कहलाती है। वह श्रद्धा बोध में अर्थात् तत्त्वज्ञान में पुष्टिदायक है।

गीत अर्थात् सूत्र और अर्थ अर्थात् उस (सूत्र) के अर्थ का विचार। जिसमें ये दोनों हों वह गीतार्थ कहलाता है। संयम अर्थात् सर्वविरतिरूप सतरह प्रकार का चारित्र। वह इस प्रकार है-पांच आश्रवों को रोकना, पांच इन्द्रियों का निग्रह करना, चार कषायों को जीतना और तीन दंड से विराम पाना। इस प्रकार की विरति में आसक्त बने हुए मनवाले मुनियों की तथा ज्ञान दर्शनवालों की भी मन, वचन और कायाद्वारा सेवा करना अर्थात् विनय करना, बहुमान करना और भक्ति करना आदि दूसरी श्रद्धा कहलाती है। अन्यथा हिंसा करनेवाली सिंहनी भी शिकार पर ताक कर नमन करती है अर्थात् नीचे झुकती है उसकी तरह नमन करना तो निष्फल है। परन्तु गुणवाली श्रद्धा को ही मुनि पर्युपास्ति नाम की दूसरी श्रद्धा कहते हैं और यह वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने में पुष्टि करनेवाली है और समकित को स्फटिक के समान स्वच्छ करनेवाली हैं। इस पर पुष्पचूला साध्वी का दृष्टान्त प्रशंसनीय हैं:—

पुष्पचूला साध्वी का दृष्टान्त।

गीतार्थसेवने सक्ता, पुष्पचूला महासती।
सर्वकर्मचयाल्लेभे, केवलज्ञानमुज्वलम् ॥ १॥

भावार्थ:—गीतार्थ मुनि की सेवा में आसक्त बनी (साध्वी) पुष्पचूला ने सर्व कर्मों का नाश कर केवलज्ञान प्राप्त की।

कुछ समय बाद पुष्पकेतु राजा को मृत्यु प्राप्त हुई और पुष्पचूल राजा बना। वह पुष्पचूला के साथ विषयसुख भोगता हुआ समय व्यतीत करने लगा। अहो! इस संसार में कामांध पुरुष कार्याकार्य का विचार भी नहीं कर सकता। पुष्पवती रानी का जीव जो देव हो गया था उसने अवधिज्ञान द्वारा पुत्र-पुत्री का अकार्य देखकर पूर्वभव के स्नेह के वशीभूत होकर पुष्पचूला को स्वप्न में महाभय उत्पन्न करनेवाला नरक दिखाया। उसको देखकर भय से भयभीत हुई पुष्पचूला ने जागृत होकर स्वप्न का सर्व वृत्तान्त अपने पति से कहा। राजा ने प्रातःकाल होते ही बौद्ध आदि सर्व दर्शनियों को बुलाकर उनसे प्रश्न किया कि नरक कैसे होते हैं? उसके उत्तर में किसी ने गर्भवास को नरक बतलाया, किसी ने कैदखाने को, किसी ने दारिद्र को, और किसीने परतंत्रता को नरक कहा। उन सब के मतों को सुन कर रानी ने कहा कि-ये तो नरक नहीं कहलाते। इस पर राजा ने अत्रिकापुत्र आचार्य को बुलाकर नरक का स्वरूप पूछा। इस पर सूरिने उत्तर दिया कि-हे राजा! नरक सात हैं, जिसमें से पहले नरक में एक सागरोपम की, दूसरे में तीन सागरोपम की, तीसरे में सात की, चोथे में दस की, पांचवें में सतरह की, छठे में बाईस की और सातवीं में तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति होती है। उन सातों नरक में पृथ्वी में क्षेत्र से उत्पन्न हुई वेदना होती है। पांच नरक में क्षेत्र वेदना के साथ साथ अन्योन्यकृत वेदना होती है और प्रथम की तीन नरकों में ये दो प्रकार उपरान्त

उरी परमाधामीकृत वेदना होती है इत्यादि। नरकों का यथार्थ
रूप सुनकर राणी ने आचार्य से पूछा कि-अहो! क्या आपको
मेरे ही समान स्वप्न आया है? गुरु ने कहा कि-हे भद्रे!
े कोई स्वप्न नहीं आया किन्तु जिनेश्वरप्रणीत आगम से मैं
का सर्व स्वरूप जानता हूँ। राणी ने पूछा कि-हे पूज्य! कौन
कर्मों से प्राणी नरक में जाता है? गुरु ने कहा कि-महा-
रंभादिक कार्यों के करने और विषयसेवनादिक से जीव नरक-
मी होता है। इत्यादि उपदेश सुनकर राजा ने उसका
सर्जन किया।

दूसरी रात्रि को उक्त देवता ने पुष्पचूला को स्वप्न में स्वर्ग
सुख बतलाये। वह वृत्तान्त भी राणी ने राजा से कहा तो
सने सब दर्शनियों को बुलाकर स्वर्ग का स्वरूप पूछा। इसके
तर में उन्होंने कहा कि-मनोवांच्छित सुख मिले उसीको स्वर्ग
हते हैं। उनके इस जवाब से सन्तुष्ट न होने से राजा ने
अन्निकापुत्र आचार्य को बुलाकर स्वर्ग का स्वरूप पूछा। गुरु ने
त्तर दिया कि-देवतागण अखंड यौवनवाले, जरा रहित, निरुपम
सुखवाले तथा सर्व अलंकारों को धारण करनेवाले होते हैं।
हले देवलोक में ३२ लाख विमान हैं, दूसरे में २८ लाख, इत्यादि
स्वर्ग का यथार्थ स्वरूप बतलाया। यह सुनकर राणी ने श्रद्धापूर्वक
छा कि-हे गुरु! वह स्वर्ग का सुख किस प्रकार मिल सकता
? गुरु ने उत्तर दिया कि-श्रावकधर्म अथवा साधुधर्म का
उत्तमरीति से सेवन करने पर स्वर्ग का सुख प्राप्त हो सकता है।

यह सुन कर प्रतिबोध पाई हुई रानी ने पुष्पचूल राजा से कहा कि-हे नाथ ! मुझे चारित्र लेने की आज्ञा प्रदान कीजिये। इस पर राजा ने कहा कि-हे प्रिये ! तेरा वियोग मैं एक क्षण भर के लिये भी सहन नहीं कर सकता हूँ । इस पर भी राणी ने आग्रह किया तो राजा ने कहा कि-हे प्रिये ! यदि तू सदैव यहीं रहना और मेरे घर से ही आहार ग्रहण करना स्वीकार करे तो मैं चारित्र लेने की स्वीकृति दे सकता हूँ। राणी ने इसे स्वीकार किया और राजा ने बड़े उत्सवपूर्वक अन्निकापुत्र आचार्य के पास राणी को दीक्षा दिलाई ।

कुछ समय के पश्चात् आचार्य ने श्रुतज्ञान के उपयोग से दुष्काल पड़ने की आशंका जान कर अपने गच्छ को दूसरे स्थान पर भेज दिया परन्तु स्वयं वृद्ध होने से वहीं पर ही रहे। वह पुष्पचूला साध्वी निर्दोष आहार लाकर उसके द्वारा अग्लान वृत्ति से गुरु की वैयावृत्य करने लगी। अनुक्रम से उसने शुभ ध्यान द्वारा क्षपकश्रेणि पर आरूढ़ होकर केवलज्ञान को प्राप्त किया। फिर भी उसने गुरु की परिचर्या जारी रक्खी अपितु गुरु की इच्छानुसार आहार लाकर उन्हें भेंट कर सेवा करने लगी। इस पर गुरु ने एक दिन उससे पूछा कि-तू मेरे मन की इच्छा सदैव क्यों कर जान जाती है ? साध्वी ने उत्तर दिया कि-हे पूज्य ! जो जिसके साथ निरन्तर रहता है वह उसकी मनोवृत्ति क्यों कर नहीं जान सकता ? अर्थात् अवश्य जान जाता है।

एक दिन वर्षा हो रही थी उस समय भी वह आहार लाई। तब सूरिने पूछा कि-हे पुत्री! तू श्रुत की ज्ञाता है, ऐसी वर्षा में तू आहार किस प्रकार लाई? उसने उत्तर दिया कि-जिस जिस प्रदेश में अचित्त अप्काय की वृष्टि हुई थी उस उस प्रदेश में चलकर मैं आहार लाई हूँ इससे यह आहार अशुद्ध नहीं है। गुरु ने पूछा कि-तूने अचित्त प्रदेश किस प्रकार जाना? उसने उत्तर दिया कि-ज्ञान द्वारा। सूरि ने पूछा कि-प्रतिपाति[1] ज्ञान द्वारा या अप्रतिपाति[2] ज्ञानद्वारा? उसने उत्तर दिया कि-पांचवें ज्ञानद्वारा (केवल ज्ञानद्वारा)। यह सुनकर सूरि ने सोचा कि-अहो! मैंने केवली की आशातना की। ऐसा कह कर उसको मिथ्या दुष्कृत दिया। फिर आचार्य ने उससे पूछा कि-मुझे मोक्ष मिलेगा या नहीं? केवली ने कहा कि-तुम को गंगा नदी पार करते हुए केवलज्ञान होगा। यह सुनकर सूरि गंगा नदी उतरने के लिये कई लोगों के साथ नाव में बैठे, परन्तु जिस तरफ वे बैठते उसी तरफ नाव झुकने लगती। प्रत्येक ओर सूरि बैठे परन्तु प्रत्येक स्थान इसी प्रकार झुकने लगा। फिर सूरि मध्य में बैठे तो समस्त नाव डूबने लगी। आचार्य ने पूर्व भव में अपनी स्त्री का अपमान किया था वह स्त्री व्यन्तरी हो गई थी जो इस

---

१ आकर चला जावे उसे प्रतिपाति ज्ञान कहते हैं।

२ आकर वापस नहीं जावे उसे अप्रतिपाति (केवलज्ञान) कहते हैं।

प्रकार सूरि के लिये उपद्रव करती थी। इसलिये लोगों ने आचार्य को उठाकर जल में फैंक दिया। उस समय उक्त व्यन्तरी ने जल में शूली खड़ी कर आचार्य को उसमें पिरो लिया। फिर भी आचार्य ने कहा कि-अहो! मेरे देह के रुधिर के गिरने से अप्काय के जीवों की मृत्यु होती है। इस प्रकार जीवदया की भावना करने लगे। तथा शुभ भाव की वृद्धि होने से सर्व कर्मों का क्षय कर अन्त में केवली होकर वे शीघ्र ही मोक्षगामी हो गये।

इस समय समीपवर्ती देवताओं ने इनके केवलज्ञान का महोत्सव किया। इसी समय से वह प्रयाग नामक तीर्थ बना। वहां पर अन्यदर्शनी स्वर्गसुख मिलने के हेतु से करवत रखाते हैं।

पुष्पचूला साध्वी ने केवलीपन से पृथ्वी पर विहार कर सर्व कर्मों का क्षय कर अन्त में मोक्षपद प्राप्त किया।

इस पुष्पचूला के पवित्र चरित्र को सुनकर जो भव्य जीव गुरुपरिचर्या करने में तत्पर रहते हैं वे परम सुखों के धाम मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्थंभे
षष्ठं व्याख्यानम् ॥ ६ ॥

व्याख्यान ७

व्यापन्नदर्शनी का त्याग करनेरूप तीसरी श्रद्धा—

व्यापन्नं दर्शनं येषां, निह्नवानामसद्ग्रहैः ।
तेषां संगो न कर्तव्यस्तच्छ्रद्धानं तृतीयकम् ॥ १ ॥

भावार्थः—कदाग्रहद्वारा जिनका सम्यग्दर्शन नष्ट हो गया है उन निह्नवों का संग न करना तीसरी श्रद्धा कहलाती है।

असद्ग्रह से अर्थात् अपनी खुद की कल्पनाद्वारा माने हुए मत पर कदाग्रह रखने से जिन का दर्शन अर्थात् सर्व नय-विशिष्ट वस्तुओं का बोधरूप समकित नष्ट हो गया है ऐसे निह्नव समग्र वस्तुओं में यथावस्थित प्रतिपत्ति (श्रद्धा) होने पर भी किसी एकाध अर्थ में अन्य मान्यतावाले होते हैं। निह्नव अर्थात् जो जिनेश्वर के वचन का निह्नव करे—अपलाप करे। ऐसे निह्नवों के संग का त्याग करना चाहिये। निह्नव शब्द के उपलक्षण से पासत्था, कुशील आदि के संग का भी त्याग करना चाहिये। अन्यथा समकित की हानि होती है इसका त्याग करना तीसरी श्रद्धा कहलाती है। इस विषय पर जिनका समकित नष्ट हुआ है ऐसे जमालि आदि का दृष्टान्त है जिनमें से प्रथम जमालि का दृष्टान्त निम्न लिखित है:—

जमालि का दृष्टान्त ।

है। इसी प्रकार सर्व वस्तु यदि की जाती हो वह तो उस को हुई नहीं कह सकते हैं परन्तु जो कार्य किया गया हो—पूरा हो गया हो, वह किया हुआ कहला सकता है। जिस प्रकार घट आदि कार्य क्रियाकाल के अन्त में ही किया हुआ दिखाई देता है। परन्तु शिवस्थासादि¹ समय में घटरूपी कार्य हुआ नहीं दिखाई देता। यह बात बच्चे से लगा कर सर्व जनों को प्रत्यक्ष सिद्ध है। इस प्रकार विचार कर वह अपनी कल्पित युक्तियें सर्व साधुओं को समझाने लगा तो उसके समुदाय के स्थविर साधुओं ने उससे कहा कि—हे आचार्य! 'क्रियमाणं कृतं' आदि भगवान के वाक्य सत्य ही है। उसमें कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं है क्योंकि एक घटादिक कार्य में अवान्तर कारण और कार्य असंख्यात होते हैं। मिट्टी लाना, उसको मर्दन कर पिन्ड बनाना, उसको चक्र पर चढ़ाना, दंड से चक्र को घुमाना प्रथम शिव करना, फिर स्थासक करना, आदि घटरूपी सर्व कार्यों का कारण है और अन्त में डोरे द्वारा काट कर घट को चक्र से अलग किया तब ही वह घटरूपी कार्य हुआ ऐसी जो आपकी मान्यता है वह अयोग्य है, क्योंकि घटरूप कार्य करते समय प्रत्येक वक्त अन्य कार्यों का आरम्भ होता है और वह कार्य निष्पन्न होता है क्योंकि कार्य के कारण का और निष्पत्ति का एक ही समय है (कारण का काल भिन्न और

---

१ शिव और स्थास ये घड़े के पेटाल, गोलाश आदि अवयव विशेष है।

स्खलना को प्राप्त नहीं होता इस से यदि तू केवली है तो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे। यह लोक शाश्वत है या अशाश्वत? और ये सर्व जीव नित्य है या अनित्य? यह सुनकर इसका उत्तर मालूम नहीं होने से जमालि मौन रहा और नियंत्रित सर्प के समान स्थिर हो गया। यह देख कर प्रभु ने कहा कि-हे जमालि! छद्मस्थ साधु भी इन प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं वह इस प्रकार है-भूत भविष्यत् और वर्तमान की अपेक्षा से यह लोक नित्य है और उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से यह लोक अनित्य है, इसी प्रकार द्रव्यरूप से यह जीव शाश्वत है और तिर्यंच,, मनुष्य, नारकी तथा देवपन पर्याय से अशाश्वत है।

इस प्रकार के भगवान के वाक्यों से जमालि को श्रद्धा नहीं हुई इससे वह खेद को प्राप्त हुआ तथा दूसरों को भी कुयुक्तियों द्वारा मिथ्यात्वी करने लगा अन्त में मृत्यु समय भी वह पाप-कर्म का प्रायश्चित तथा आलोयणा प्रतिक्रमणादि किये बिना एक मास का अनशन कर लांतक देवलोक में तेरह सागरोपम की आयुष्यवाला किल्विषीदेव हुआ (यह जमालि का चरित्र भगवती सूत्र में विस्तार से दिया हुआ है)।

श्री जिनेश्वर ने कहा है कि-देव तिर्यंच, और मनुष्यों के भव में पांच पांच वार उत्पन्न होकर वह जमालि फिर से समकित पाकर सिद्धिसुख को पावेगा। इस प्रकार श्री वीर प्राकृत चरित्र में कहा गया है।

के सारे गौड़ देश के पंडित देश छोड़ कर [illegible], [illegible] के [illegible] प्रतिबिंबित होकर [illegible] हो गये हैं, [illegible] देश के पंडित तो मानों मर ही गये हैं और [illegible] देश के [illegible] पंडित भी [illegible] हो गये हैं। [illegible] मेरे सामने वाद करने की [illegible] वाला एक भी पंडित शेष नहीं रहा। केवल यह एक ही [illegible] मेंढक कृष्णसर्प को लात मारने को तैयार हो, जैसे [illegible] हाथी को सींग मारने को तैयार हो और हाथी अपने दांतद्वारा पर्वत को तोड़ने का प्रयास करे उसी प्रकार मेरे साथ वाद करने को उत्सुक है। अथवा इसने जो यहां आकर मेरे को कोपित किया है यह उसने सोये हुए सिंह को जागृत करने का प्रयास किया है। अपनी आजीविका और यश को हानि पहुंचाने के लिये उसने ऐसा अविचारी कृत्य क्यों किया है? इसने वायु के सामने होकर अग्नि को प्रज्वलित किया है। देह के सुख के लिये इसने कौंच लता का आलिंगन[1] किया है और शेषनाग के फण पर मणि लेने के लिये उसने हाथ लम्बा किया है। अरे! जब तक सूर्य उदय नहीं होता तब तक ही खद्योत और चन्द्र प्रकाश कर सकता है किन्तु सूर्य के उदय होते ही खद्योत और चन्द्र अदृश हो जाते हैं। एक ही सिंह के गर्जन से सर्व पशु भाग जाते हैं। जब तक गुफा में रहनेवाले सिंह के पूंछ झपाटे का शब्द सुनाई

---

१ कौचा का केवल स्पर्श करने से सम्पूर्ण शरीर में जलन पैदा हो जाती है तो उसके आलिंगन करने से तो क्या नहीं होता?

नहीं देता तब तक ही मदोन्मत्त हाथी काले मेघ के समान गर्जना करता है किन्तु जैसे दुष्काल में भूखे प्राणी को कहीं से अन्न मिल जाय इसी प्रकार मुझे भी आज मेरे भाग्यवश यह वादी मिला है, अतः अब मैं इसके पास जाता हूं। यमराज के लिये कोई मालवा देश दूर नहीं होता, चक्रवर्ती के लिये कोई अजय नहीं होता, पंडितों से कोई छिपा नहीं होता, और कल्पवृक्ष के लिये वस्तु देने योग्य नहीं होती। इसलिये आज उसके पास जाकर उसका पराक्रम भी देखलूँ। साहित्यशास्त्र, न्याय-शास्त्र, व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र और अलंकारशास्त्र आदि सब शास्त्रों में मैं निपुण हूं। किस शास्त्र में मेरा प्रयास नहीं ? अतः इस वादी को मैं जीत कर उसके सर्वज्ञत्व के आडम्बर को दूर करूंगा।

इस प्रकार गर्वित्त्व के वचनों को बोलते हुए इन्द्रभूति ने देह की कान्ति को बढ़ाने के लिये अपने शरीर पर बारह तिलक लगाये, सुवर्ण का यज्ञोपवीत धारण किया और उत्तम वस्त्र पहिने। इस प्रकार महाआडम्बर कर अपने पांचसो शिष्यों सहित रवाना हुआ। उस समय उनके शिष्यगण बिरुदावली बोलने लगे कि जिसके कंठ में सरस्वती देवी आभूषणरूप विद्यमान हैं, जो सर्व पुराणों का ज्ञाता हैं, जो वादीरूपी केल के लिये कृपाण (खड्ग) के समान है, अपितु वादीरूपी अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य समान, वादीरूपी घंटी को तोड़ने के

लिये मुद्गर समान, सर्व शास्त्रों का आधारभूत, साक्षात् परमेश्वररूप, वादीरूपी घुवड़ को नष्ट करने में सूर्य समान, वादीरूपी समुद्र का शोषण करने में अगस्त्यऋषि समान, वादीरूपी पतंगियों को भस्म करने में दीपक समान, वादीरूप ज्वर का नाश करने में धन्वन्तरी वैद्य के समान, सरस्वती के कृपापात्र, और बृहस्पति (देवगुरु) भी जिसके शिष्यरूप हैं ऐसे हे भगवान ! तुम्हारी जय हो। इस प्रकार शिष्यों के मुख से गायी जानेवाली विरुदावली का श्रवण करते हुए गौतम आगे बढ़ता गया।

समवसरण के नजदीक आने पर अशोकादि अतिशयों को देख कर तथा जातिवैरवाले प्राणियों को वैर का त्याग कर एकत्रित हुए देख कर वह बोला कि–अहो ! यह तो कोई महाधूर्त जान पड़ता है। इस पर उसका छात्र (शिष्य) बोला कि–हे पूज्य गुरु ! हम आपकी कृपा से हमेशा करोड़ों वादियों को जय करने में समर्थ हैं तो फिर इस एक का पराजय करना तो कौन बड़ी बात है ? हमारे में से एक ही छात्र उसका निग्रह करने में समर्थ है। यह सुनकर गौतम समवसरण के समीप गया। समवसरण के पहिले पगथिये पर चढ़ कर श्री वीरप्रभु को देखते ही उसको शंका (भय) उत्पन्न हुई। वह आश्चर्यचकित होकर विचारने लगा कि–अहो ! यह कौन है ? क्या सूर्य है ? नहीं, सूर्य तो उष्ण किरणोंवाला होता है। तो क्या यह चन्द्र है ? नहीं, यह तो कलंकी है। तो क्या मेरुपर्वत है ? नहीं, यह तो अत्यन्त कठिन है। तो क्या विष्णु है ? नहीं,

वह तो काला है। तब क्या ब्रह्मा हैं ? नहीं वह तो अवस्थाद्वारा आतुर है और जरा (वृद्धावस्था) से व्याप्त है। तो क्या कामदेव है ? नहीं, वह तो बिना शरीरवाला है। तो क्या महादेव है ? नहीं, वह तो कंठ में शेषनाग के धारन करने से भयंकर है परन्तु यह तो सर्व दोषों रहित और समग्र गुणसमूह से व्याप्त हैं, अतः यह तो आखिरी तीर्थंकर ही होना चाहिये। सूर्य के समान इनके सामने भी नहीं देखा जा सकता और दुस्तर समुद्र के समान इनका उल्लंघन भी नहीं किया जा सकता। अब इनके सामने में अपना महत्व किस प्रकार रखूँ अरे! मेरे जैसे मूर्ख ने सिंह के मुँह में हाथ डाला और बेर के वृक्ष की डाली का आलिंगन किया। मेरे लिये तो एक ओर पूरी भरी हुई नदी और दूसरी ओर घाव इस न्याय के समान हुआ। अपितु एक कीली के लिये सम्पूर्ण महल को गिराना कौन चाहता है ? सूत के धागे के लिये सम्पूर्ण हार कौन तोड़े ? राख के लिये चन्दन की लकड़ी कौन जलावे ? लोह के लिये समुद्र के जहाज को कौन तोड़े ? परन्तु मैंने तो यह सब कुछ करनेवाले की तरह अविचारी कार्य किया है। मुझ दुर्बुद्धि ने जगदीश्वर को जीतने की इच्छा की और इसलिये यहां आया परन्तु इस जगन्नाथ ने किसी भी दिव्य प्रयोग से मेरा मन वश कर लिया कि जिससे मेरी ऐसी बुद्धि हुई। अब इनके सामने में एक अक्षर भी किस प्रकार बोल सकता हूँ, और उनके पास भी किस प्रकार जाऊँ ? इस समय तो

उत्पन्न होनेवाला जीव-नर नारी से उत्पन्न गर्भ, जीव से उत्पन्न होनेवाला अजीव-देह से उत्पन्न होनेवाले नख आदि, अजीव से उत्पन्न होनेवाला अजीव इंटादिक के चूर्ण के समान, और अजीव से उत्पन्न होनेवाला जीव पसीने से जूं आदि की उत्पत्ति के समान समझना चाहिये। इस प्रकार विगम–नाश के भी चार भाग समझने चाहिये। जीव से ॐजीव का नाश होता है, जीव से अजीव का नाश होता है, अजीव से जीव का नाश होता है और अजीव से अजीव का नाश होता है। ध्रुवन में नित्य, अछेद्य, अभेद्यादिक जीव का स्वरूप समझना चाहिये।

गौतम के दीक्षा लेने की खबर सुनकर अग्निभूति आदि अन्य दस पंडित भी अनुक्रम से भगवान के पास आये और अपने संशय दूर होने से उन सबने भी अपने अपने शिष्यों सहित दीक्षा ग्रहण की।

हे भव्य प्राणियों! गुणों के मन्दिर गौतम गणधर का यह सर्व सुखों को देनेवाला चरित्र सुनो कि जिस से मिथ्यादर्शन का नाश हो और मोक्षसुख को प्राप्त करानेवाला सम्यग्दर्शन प्राप्त हो।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्थंभे
अष्ठमं व्याख्यानम् ॥ ८ ॥

ॐ १ जीव छकाय जीवों की उपमर्दना करनेवाला।
२ जीव घटादि पदार्थों का नाश करनेवाला।
३ मद्गादिक अथवा सोमलादिक से मरण पानेवाला।
४ घड़े को पत्थर मारने से घड़ा फूट जानेवाला।

व्याख्यान ९

समकित के तीन लिङ्गों में से पहिला शुश्रूषा नामक लिङ्ग कहते हैं:—

शुश्रूषा भगवद्वाक्ये, रागो धर्मे जिनोदिते ।
वैयावृत्त्यं जिने साधौ, चेति लिंगं त्रिधा भवेत् ॥ १ ॥

भावार्थ:—श्री जिनेश्वर के वाक्यों में शुश्रूषा अर्थात् सुनने की इच्छा, जिनेश्वरद्वारा कहे धर्म में राग-प्रीति और जिनेश्वर तथा साधुओं की वैयावृत्य, समकित के ये तीन लिङ्ग हैं।

श्रीअरिहंत के कहे हुए वचनों को सुनने की निरन्तर इच्छा रखनी चाहिये, क्यों कि बिना जिनवचन श्रवण किये किसी भी ज्ञानादिक गुण की प्राप्ति नहीं होती। आगम में भी कहा है कि:—

सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।
अणिहए तवे चेव, वोदाणे अकिरिय निव्वाणे ॥ १ ॥

भावार्थ:—शास्त्र श्रवण से ज्ञानोपार्जन होता है, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से पच्चक्खाण, पच्चक्खाण से संयम, संयम से दोष रहित तप, तप से क्रिया रहितपन प्राप्त होता है, पूर्वकर्म की निर्जरा होती है, नये कर्म नहीं बांधे जाते और क्रिया रहित होने से निर्वाण-मोक्ष की प्राप्ति होती है।

[illegible] में प्रवेश किया। [illegible] को [illegible]
[illegible] के मुद्गर को [illegible]
का मुद्गर बना दिया। [illegible] के शरीर में [illegible]
यह [illegible] प्रतिदिन [illegible] पुरुषों को नहीं
मारता था तब तक उसका क्रोध शान्त नहीं होता था। यह वृत्तान्त
सुनकर उस नगर के राजा श्रेणिक ने नगर के दरवाजे बन्द
करा कर सभी पुरवासियों को सूचित किया कि—जब तक यह
अर्जुन माली व्यक्तियों को न मार डाले तब तक कोई भी नगर के
बाहर न निकले।

इस अवसर पर श्रीवीर प्रभु उस नगर के उद्यान में पधारे। सुदर्शन नामक महाश्रावक उनका आगमन सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुआ और जिनेश्वर के वचनामृत का पान करने की इच्छा से अपने मातापिता से आज्ञा मांगने लगा कि—मैं जिनेश्वर को वन्दना करने के लिये जाना चाहता हूँ। यह सुन कर उन्होंने जवाब दिया कि—हे वत्स! वहां जाने से तुम्हें उपसर्ग होगा इसलिये यहीं रहकर भाव से प्रभु को वन्दना करलो। सुदर्शन ने जवाब दिया कि—हे मातापिता तीनों जगत के गुरु श्री जिनेश्वर के मुँह से उपदेश को श्रवण किये विना मुझे तो भोजन करना भी नहीं कल्पता। इस प्रकार कह कर मातापिता की आज्ञा लेकर सुदर्शन श्रीवीर प्रभु को वन्दना करने के लिए चला। मार्ग में चलते हुए उसने क्रोध से मुद्गर ऊंचा उठाकर

कोपायमान यमराज के समान अर्जुनमाली को दूर से आते हुए देखा। इस पर शीघ्र ही वह श्रेष्ठ सुदर्शन सेठ अपने वस्त्र के छोर से पृथ्वी का प्रमार्जन कर वहां बैठ गया। फिर जिनेश्वर को नमस्कार कर, चार शरणों को अंगीकार कर, सर्व प्राणियों को खमाकर, सागारी अनशन कर उपसर्ग नाश होने पर ही पारने का निश्चय कर कायोत्सर्ग किया और पंचपरमेष्ठी महामंत्र का स्मरण करने लगा। अर्जुनमाली के शरीर में रहा हुआ यक्ष उसके पास आया परन्तु मंत्र से विष रहित किये और कीले हुए सर्प के समान वह उसका पराभव करने में अशक्त रहा, और उसका तेज नष्ट हो गया। तब वह यक्ष भयभीत होकर अपना मुद्गर लेकर अर्जुन के शरीर से निकल गया। यक्ष के प्रवेश से दुर्बल बना हुआ अर्जुन भी कटे हुए वृक्ष के समान शीघ्र ही पृथ्वी पर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद होश आने पर अर्जुन उस सेठ की ओर देख कर ऐसे पूछने लगा कि—तुम कौन हो? और कहां जा रहे हो? सेठ ने उत्तर दिया कि—मैं सुदर्शन नामक सेठ हूं और श्रीवीरप्रभु को वंदना करने के लिये जा रहा हूं। तुम भी उन सर्वज्ञ को वन्दना करने के लिये चलो। यह सुनकर अर्जुन भी उसके साथ भगवान के समवसरण में गया। प्रभु को वन्दना कर उन दोनों ने इस प्रकार देशना सुनी कि:—

“हे भव्य प्राणियो! मोह से अन्धे बने हुए इस जगत में मनुष्य जन्म, आर्य देश, उत्तम कुल, श्रद्धालुपन, गुरु वचन का

[illegible] और [illegible] के फलितों की [illegible] है। [illegible] से ही प्राप्त होता है।" इत्यादि देशना श्रवण कर के नियम ग्रहण कर सुदर्शन सेठ अपने घर पर आया।

अर्जुनमाली को वैराग्य उत्पन्न होने से पूर्व किये हुए वध सम्बन्धी पाप का हनन करने के लिये उसने भगवान के समीप जाकर दीक्षा ग्रहण की और उसी समय उसने अभिग्रह लिया कि–हे विभु! आज से मुझे आपकी आज्ञा से निरन्तर षष्ठ तप द्वारा आत्मा को भाते हुए विचरना है। स्वामी ने उसको योग्य समझ कर वैसा करने की आज्ञा प्रदान की। फिर अर्जुन मुनि छट्ठ छट्ठ का तप करते हुए विचरने लगे। पारणे के दिन गोचरी के लिये जब वे ग्राम में जाते तो उन्हें देख कर लोग कहते कि–इसने मेरे पिता को मारा है, कोई कहता कि–इसने मेरी माता मार डाली है। इस प्रकार कोई भाई को, कोई बहिन को, और कोई स्त्री को मार डालने का कह कह कर मुनि को गालियें देने लगे, आक्रोश करने लगे, मारने लगे, धिक्कारने लगे, और निन्दा करने लगे, परन्तु वह मुनि उन पर मन से भी खेद पाये विना सर्व उपसर्ग सम्यक्रूप से सहन करते रहे। ऐसा करते हुए किसी समय पारणे के दिन कुछ आहार मिलता तो वे भगवान को निवेदन कर मूर्छा रहित उपयोग में लेलेते। इस प्रकार उदार तप पूर्वक आत्मा को भाते हुए उस अर्जुनमाली

मुनि ने कुछ कम छः मास व्यतीत किये। अन्त में आधे मास की संलेखना कर अन्तकृत केवली होकर अनन्तचतुष्टयवाले मोक्षपद को प्राप्त किया।

सदैव सात मनुष्यों के वध करनेवाले अर्जुनमाली ने भगवान को पाकर, अनुपम अभिग्रह का पालन कर, अन्त में अंतकृत केवली होकर सिद्धपद को प्राप्त किया और सुदर्शन श्रेष्ठी ने भी स्वर्ग के सुख को प्राप्त किया।

हे भव्य जीवों! आगम के श्रवण करने में जिसका चित्त लगा हुआ है ऐसे सुदर्शन श्रेष्ठी के इस चरित्र को पढ़ कर भव-सागर को पार करने के लिये नौका के समान धर्म का श्रवण करने का निरन्तर यत्न करो।

यह विषय अंतगडदशांग सूत्र में भी वर्णित है।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्तंभे
नवमं व्याख्यानम् ॥ ९ ॥

व्याख्यान १० वां

समकित के दूसरे धर्मरागरूप लिंग के विषय में:—

पिछले व्याख्यान के आरम्भ के श्लोक में "रागो धर्मे जिनोदिते" यह दूसरा पद कहा गया है। "जिन" अर्थात् राग

सकता इसी प्रकार जीव ज्ञानयुक्त होने पर भी शुद्ध चारित्र बिना मोक्ष के सुख का अनुभव नहीं कर सकता। इसलिये तुम चारित्र-वान बनो। शासनदेव के ऐसा कहने पर भी वह ब्राह्मण होने से अपने हठ को नहीं छोड़ता था। स्नान, दन्तधावन आदि न करने से उसको दुगंछा उत्पन्न हुई। उसकी स्त्री उसके प्रेम को नहीं छोड़ सकी। अतः उसने उसे वश करने के लिये उस पर कामण किया जिससे शारीरिक पीड़ा सहते हुए उस ब्राह्मण ने मुनि शुद्ध चारित्र का पालन कर देवपद प्राप्त किया। तब उस ब्राह्मणी ने अपने ही कामण द्वारा पति की मृत्यु होना जान कर वैराग्य उत्पन्न हो जाने से चारित्र ग्रहण किया और मुनि हत्या के पाप की आलोचना किये बिना ही मृत्यु को प्राप्त कर स्वर्गारोहण किया।

देव आयुष्य के पूर्ण होने पर वह ब्राह्मण च्यव कर राज-गृह नगर में धना श्रेष्ठी की चिलाती नामक दासी की कुक्षी से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। लोगों में वह चिलातिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी स्त्री स्वर्ग में से च्यव कर धना श्रेष्ठी के घर ही पांच पुत्रों बाद सुसुमा नामक पुत्री हुई। धना श्रेष्ठी ने उस पुत्री को खिलाने के लिये चिलातीपुत्र को रखने की योजना की। एक दिन श्रेष्ठी ने चिलातीपुत्र को सुसुमा के साथ असभ्य क्रीडा करते देख कर उसे निकाल दिया। वह सिंहगुहा नामक चोर की पल्ली में जाकर रहने लगा। पल्लीपति ने अपने अवसान काल में उसको अपने पुत्र की जगह स्थापित कर उसे पल्लीपति बना दिया।

वहां कामदेव के शस्त्र से वेधित चिलातीपुत्र सुसुमा का वारम्वार स्मरण करने लगा। एक बार उस पापी ने सर्व चोरों से कहा कि-आज हमें राजगृह में धनाश्रेष्ठी के घर चोरी करने के लिए चलना चाहिये। वहां जितना भी धन प्राप्त हो वह सब तुम लोग आपस में बांट लेना परन्तु उसकी पुत्री सुसुमा मेरे हिस्से में रहेगी। इस प्रकार व्यवस्था कर रात्रि के समय वे चोर धनाश्रेष्ठी के घर में घुस पड़े। धना सेठ आदि को अवस्वापिनी देकर सर्व चोर धन लेकर निकल गये और चिलातिपुत्र सुसुमा को लेकर भागा। थोड़ी देर बाद सेठ की आंखे खुलीं तो उसने शोर मचा कर सब को जगा दिया। अपने पांचों पुत्रों सहित नगर के कोतवाल आदि को संग में लेकर सेठ चोरों की खोज में उनके पीछे पीछे चला। उन्हें पीछे आते हुए देख कर सब चोर भय के मारे सब धन वहीं छोड़ कर भिन्न भिन्न दिशाओं में भाग गये। उस धन को लेकर कोतवाल आदि तो वापस लौट गये परन्तु धना सेठ पांचों पुत्रों सहित सुसुमा की खोज में और आगे बढ़ा। उनको तलवार हाथ में लिये हुये आते देख कर चिलातिपुत्र ने अपनी खड्ग से सुसुमा का मस्तक धड़ से अलग कर धड़ को वहीं डाल मस्तक हाथ में लेकर शीघ्रतया भाग गया। धना सेठ जब उस स्थान पर आया तो सुसुमा को मरी हुई देख कर विलाप करने लगा और क्षण बार ठहर कर वापिस अपने नगर को चला गया।

उसके मन में समझ पड़ी कि उपशम अर्थात् क्रोध की शान्ति, यह उपशम तो मुझ में कहां है ? बिलकुल नहीं। ऐसा विचार कर उसने अपने हाथ में से क्रोध के चिह्नभूत खड्ग को फेंक दिया। फिर विचार करते हुए उसने विवेक पद का अर्थ लगाया कि-कृत्य (करने लायक) के लिये प्रवृत्ति करना और अकृत्य के लिये निवृत्ति करना इसे विवेक कहते हैं, इस विवेक से धर्म होता है। ऐसा विवेक मुझ में कहां है ? क्योंकि दुष्टता को सूचित करनेवाला स्त्री का मस्तक तो मेरे हाथ में है। ऐसा विचार कर उसने स्त्री के मस्तक को त्याग किया। फिर संवर का अर्थ विचारते हुए उसने समझा कि पांचों इन्द्रियों और मन का निरोध करना संवर कहलाता है। वह संवर मेरे जैसे स्वेच्छाचारी को-सर्व प्रकार से पतित को कहां से हो ? नहीं हो सकता। तो मुझे उसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार विचार कर पहले मुनि जिस स्थान पर खड़े थे उसी स्थान पर वह भी उस मुनि के समान कायोत्सर्ग कर खड़ा हो गया और प्रतिज्ञा की कि जब तक स्त्री हत्या का पाप स्मरण में आवे तब तक मैं अपने देह को वोसराता हूँ अर्थात् तब तक मैं कायोत्सर्ग रहूँगा।

अब भावमुनि हुए चिलाति पुत्र का शरीर रुधिर से व्याप्त था इसलिये उसके गंध से असंख्य चीटियों ने एकत्रित हो कर उसके शरीर को छेद छेद कर चलनी के समान बना दिया। वे

चीटियें पैर से खाती खाती मस्तक पर आ निकलीं। इस प्रकार अढ़ाई दिन तक महातीव्र वेदना को सहते हुए भी वे किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुए। अन्त में आयुष्य पूर्ण कर वे महात्मा मृत्यु को प्राप्त कर आठवें सहस्रार देवलोक में देवता हुए।

हे भव्य प्राणियों! सद्वाक्य के अर्थ को बुद्धिपूर्वक विचार कर चिलातिपुत्र ने बड़े पाप का नाश किया। इसी प्रकार यदि तुम भी आश्रवों का त्याग करोगे तो तुम्हारे हाथ में ही मोक्षलक्ष्मी क्रीड़ा करेगी।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तस्य वृत्तौ प्रथमस्तंभे दशमं व्याख्यानम् ॥ १० ॥
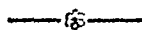
व्याख्यान ११ वां

अब समकित के तीसरे वैयावृत्य नामक लिंग के विषय में कहते हैं:—

नववें व्याख्यान के आरम्भ के श्लोक में "वैयावृत्यं जिने साधौ, चेति लिंगं त्रिधा भवेत्।" इन आखिरी दो पदों में जिन' अर्थात् रागादि अठारह दोषों को जीतनेवाले देव और तत्त्व का प्रकाश करनेवाले तथा पांच प्रकार के आचार पालने में तत्पर 'साधु' अर्थात् 'गुरु' इन में से जिनेश्वर की द्रव्यपूजा तथा भाव-

ने उससे कहा कि "तू खेद न कर, मेरी सात कन्यायें हैं उनमें से मैं एक तुझको दूंगा।" बादमें उसने अपनी सब लड़कियों को अनुक्रम से नंदिषेण के साथ विवाह करने को कहा तो सब बोलीं कि-हम विष पी लेंगी अथवा गले में फांसी लगा लेंगी परन्तु नंदिषेण को पतिरूप से अङ्गीकार नहीं करेंगी। अपने मामा को निरुपाय हुआ जानकर नंदिषेण को इतना खेद हुआ कि उसने अपने मामा के घर को छोड़ कर वन में जाकर भृगुपात[1] कर मरने की तैयारी की कि इस बीच में उसने समीप ही एक मुनि को कायोत्सर्ग कर खड़े हुए देखा। मुनि ने उसको भृगुपात करने से रोक कर उसका कारण पूछा। इस पर उस मुनि से प्रणाम कर अपना वृत्तान्त कह सुनाया। मुनिने कहा कि-हे मुग्ध ! निरन्तर मलिन देहवाली, जिसके बारह द्वारों में से मल बहता ही रहता है ऐसी स्त्रियों में तू आसक्ति न रख ऐसे मरण से कोई कर्म क्षय नहीं होता अपितु कर्मवृद्धि होती है परन्तु यदि तुझे सुख की आशा हो तो जीवनपर्यंत चारित्रधर्म की प्रतिपालना कर कि जिससे आगामी भव में तुझे सुख प्राप्त हो सके। यह सुन कर उसने शीघ्र ही उस मुनि के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। गुरु के पास विनयपूर्वक धर्मशास्त्रों का पठन करते हुए वह गीतार्थी हुआ। अन्त में उस नंदिषेण मुनि ने निरन्तर छट्ठ तप कर पारणे के दिन वृद्ध, ग्लान

---

१ पर्वत के ऊंचे शिखर से गिर कर मर जाना। इसको भैरवजव भी कहते हैं।

और अनेक साधुओं की वैयावच्च कर बाद में आंबिल करने का अभिग्रह किया किया।

इस प्रकार अविच्छिन्न अभिग्रह का पालन करते हुए एक बार इन्द्र ने अपनी सभा में नंदिषेण की उग्र तपस्या तथा निश्चल अभिग्रह की प्रशंसा की। इस पर अविश्वास होने से दो देवता इस बात की परीक्षा लेने के लिये उसके पास आये। एक देवता साधु का रूप धारण कर ग्राम के बाहर ठहरा और दूसरा देव साधु के रूप में नंदिषेण के पास आया। उस समय नंदिषेण मुनि छट्ठ का पारणा होने से पच्चक्खाण कर भोजन करने बैठता ही था कि उस द्रव्य साधु ने भाव साधु से कहा कि-"अरे नंदिषेण! तेरा अभिग्रह कहां गया? इस नगर के बाहर एक ग्लान साधु अत्यन्त तृषाक्रांत पड़ा हुआ है उसकी वैयावृत्य किये बिना तू क्यों कर खाने बैठता है?" यह सुन कर नंदिषेण मुनि अपना भिक्षापात्र दूसरे मुनि के पास रख कर उस ग्लान साधु के लिये प्रासुक जल लेने के लिये निकला। उस देवता ने देवशक्ति द्वारा सब घरों के पानी को अनेषणीय कर देने से नंदिषेण मुनि को कई घरों पर फिरना पड़ा। अन्त में एक घर से उसको शुद्ध जल मिला जिसको लेकर उस साधु के साथ नंदिषेण ग्राम बाहर ग्लान साधु के पास गया। उस ग्लान साधु को अतिसार की व्याधि थी, इससे नंदिषेण उसके शरीर को धोने लगा। उस समय उस देव ने अत्यन्त दुर्गंधी फैलाई, परन्तु नंदिषेण उससे

स्त्रीवल्लभ बनूं। फिर वह मुनि कालधर्म को प्राप्त कर सातवें महाशुक्र देवलोक में देवता हुआ।

देवलोक से च्यवन कर नंदिषेण का जीव सूर्यपुर में अंधकवृष्णी राजा की सुभद्रा नामक राणी से दसवां वसुदेव नामक पुत्र हुआ। वह कुमार पूर्व जन्म के किये निदान से स्त्रीवल्लभ हुआ। वसुदेव कुमार नगर में जहां २ फिरता वहां २ नगर की स्त्रियें अपने गृहकार्यों को छोड़ कर उसके पीछे हो जाती थीं, इससे उद्वेग पाये हुए पुरजनों ने समुद्रविजय राजा को विज्ञप्तिपूर्वक यह सब वृत्तान्त जाहिर किया जिसको सुनकर राजा ने पुरजनों को समझाबुझा कर विदा किया। फिर वसुदेव को बुलाकर उससे कहा कि-आज से तुम अपने राजगढ़ में ही क्रीड़ा करना, बाहर मत निकलना। वसुदेव ने उस आज्ञा को शिरोधार्य किया।

एक बार ग्रीष्मऋतु में शिवादेवी से समुद्रविजय के विलेपन के लिये भेजे हुए कटोरे को ले जाती हुई दासी को देख कर वसुदेव कुमार ने पूछा कि-हे दासी! क्या ले जाती है? ला मुझे दे। दासी ने देने से इन्कार किया। इस पर वसुदेव ने बलात्कारपूर्वक उसके पास से चन्दन का कटोरा छीनकर चन्दन का अपने शरीर पर विलेपन किया। इस से रुष्टमान हुई दासी ने कहा कि-ऐसे बदमाश हो इसी कारण घररूपी कैदखाने में रखे गये मालूम होते हो। यह सुनकर वसुदेव ने पूछा कि-यह

क्यों कर ? इस पर उसने पुरवासियों सम्बन्धी सब वृत्तान्त कह सुनाया। इससे वसुदेव अपना अपमान समझ कर, रोषपूर्वक उसी रात्रि को चुपके से नगर के बाहर निकल गया और अपनी जंघा चीर कर उसके रुधिर से नगर के दरवाजे पर लिखा कि, "भाई के अपमान से वसुदेव ने यहां चिता में प्रवेश किया है।" बाद में उसके समीप ही एक चिता बना कर उसमें किसी मुर्दे को जला कर वसुदेव देशान्तर चला गया।

गांव गांव घूमते हुए अनुक्रम से बहत्तर हजार विद्याधर आदि की कन्याओं के साथ उसने विवाह किया। एक बार शौरीपुर में रोहिणी राजपुत्री का स्वयंवर हो रहा था, जिस में कई राजा और राजपुत्र एकत्रित हुए थे। वसुदेव भी वामन और कुब्ज का रूप बना वहां पहुंचा। सर्व लोग उसे वामनरूप से देखते थे किन्तु रोहिणी उसको मूलरूप से ही देखती थी, इससे रोहिणी ने उस पर मोहित होकर अन्य सर्व का त्याग कर उसके कंठ में ही वरमाला आरोपण की। यह देख कर समुद्रविजय आदि राजगण क्रोधित हो कर उस वामन के साथ युद्ध करने को तैयार हुए। वसुदेव ने सोचा कि—बड़े भाई के साथ युद्ध करना अयुक्त है इसलिये उसने अपने नाम से अंकित बाण समुद्रविजय की ओर फैंका। उस बाण को लेकर देखने पर 'वसुदेव तुमको प्रणाम करता है" ऐसे अक्षर पढ़ कर समुद्र-विजय ने जाना कि यह तो मेरा छोटा भाई है किसी कारणवश

व्याख्यान १२ वां

तीसरा विनय द्वार ।

अर्हत्सिद्धमुनीन्द्रेषु, धर्मचैत्यश्रुतेष्वपि ।
तथा प्रवचनाचार्योपाध्यायदर्शनेष्वपि ॥ १ ॥
पूजा प्रशंसनं भक्तिरवर्णवादनाशनम् ।
आशातनापरित्यागः, सम्यक्त्वे विनया दश ॥ २ ॥

भावार्थः—अर्हत्, सिद्ध, मुनि, धर्म, चैत्य, श्रुत, प्रवचन, आचार्य, उपाध्याय और दर्शन के विषय में पूजा, प्रशंसा, भक्ति, अवर्णवाद का नाश और आशातना का परित्याग करना यह समकितसूचक दस प्रकार का विनय है।

विस्तरार्थः—सुर और असुर आदि द्वारा की हुई पूजा जो अर्ह अर्थात् लायक हो वह अर्हत् कहलाता है।

उक्कोसं सत्तरिसयं, जहन्न वीसा य दस विहरंति ।
जम्मं पइ उक्कोसं, वीसं दस हुंति जहन्ना ॥ १ ॥

भावार्थः—एक काल में उत्कृष्ट से एक सो सीत्तर और जघन्य से वीस या दस तीर्थंकर विचरते हैं। जन्म द्वारा उत्कृष्ट से वीस एक काल में जन्मते हैं और जघन्य से एक काल में दस तीर्थंकर पैदा होते हैं।

से राजसभा में प्रवेश किया। उसने राजा को नमस्कार कर विज्ञप्ति की कि हे स्वामी! हमारे राजा अमरचन्द्र के यशोमती नामक पुत्री है, वह एक बार पुष्पोद्यान में क्रीड़ा कर रही थी कि उस समय उसने भिक्षाचारियों के मुख से आपके पुत्र भुवनतिलक कुमार के गुणसमूह को गाते हुए सुना तब से ही वह यशोमती उस कुँवर का ही ध्यान करती हुई महाकष्ट से दिवस निर्गमन करने लगी। वियोग की विधुरता से कृश हुई कुमारी को देख कर राजा ने उससे कृश होने का कारण पूछा तो उसने उसका मनोगत अभिप्राय उनसे निवेदन किया। वह सुन कर हमारे राजा ने मुझे आपके पास आपके पुत्र के साथ उसका लग्न सम्बन्ध करने के लिये भेजा है, अतः आप मेरी बात स्वीकार कर हमको आभारी कीजिये। उस प्रधान के बचन सुन कर धनद राजा ने कुमार का विवाह करना स्वीकार कर उस प्रधान का उपयुक्त सन्मान किया।

बाद में शुभ दिन को धनद राजा की आज्ञा से मंत्री और सामन्त राजाओं सहित राजकुमार भुवनतिलक ने लग्न के लिये प्रयाण किया। मार्ग में सिद्धपुर नगर के पास आते हुए कुमा[illegible] एकदम आंखें बन्द कर मूर्च्छा खाकर रथ में पड़ गया। उसको सब पुकारने लगे परन्तु वह तो गूंगे के समान एक अक्षर भ[illegible] नहीं बोलता था। इस पर हिमाघात कमल के समान मुखवा[illegible] सचिवगण नगर में से कई मांत्रिकों को बुलाकर लाये, परन्तु उ[illegible] सब के प्रयोग ऊपर भूमि में वृष्टि के समान निष्फल हुए। उ[illegible]

समय थोड़ी सी दूरी पर कोई केवली स्वर्णकमल पत्र पर बैठ कर देशना दे रहे हैं ऐसा सुनकर वे मंत्रीगण केवली के पास आकर उनको वन्दना कर देशना सुनने लगे। केवली भगवान बोले कि- "हे भव्य प्राणियों! इस संसाररूपी अगाध समुद्र में मत्स्यादिक के समूह के समान संभ्रम से भटकते हुए जीव बहुत कष्ट भोग कर, पूर्ण सत्कृत्यों द्वारा अद्भुत मनुष्य जन्म को प्राप्त करते हैं। बस मनुष्य जन्म को सफल करने के लिये मोक्षसुखरूपी वृक्ष की वृद्धि करने में मेघ के समान विनयद्वारा सिद्धादि परमेष्ठी का आराधन करो।"

इत्यादि देशना सुनकर कंठीरव नामक प्रधान मंत्री ने प्रणामपूर्वक केवली को पूछा कि-"हे भगवन्! भुवनतिलक राजकुमार को अणचिंती दुःखप्राप्ति होने का क्या कारण है?" केवली ने उत्तर दिया कि "धातकीखंड के भरतक्षेत्र में भवनागार नामक पुर में अपने पापसमूह का नाश करनेवाले कोई सूरि अपने गच्छ सहित पधारे। उन सूरि का एक वासव नामक शिष्य महात्माओं का शत्रुरूप था। वह निरन्तर दुर्विनयरूप समुद्र में निमग्न रहता था। एक बार उसको आचार्य ने उपदेश दिया कि 'वत्स! विनयगुण धारण कर। कहा भी है कि:—

विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम्।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः॥ १॥

आखिरी नरक में गया। इधर सूरि आदि को वह जल पीने से शासनदेव ने रोक दिया।

वह वासव नरक से निकल कर मत्स्यादि योनियों में पैदा होकर अनेकों भवों में भटका। वर्तमान में कुछ कर्म की लघुता होने से वह वासव राजकुमार हुआ है। अभी पूर्व किये हुए मानसिक ऋषिघात सम्बन्धी शेष रहे पाप के उदय से ऐसी दुर्दशा को प्राप्त हुआ है। हे मंत्री! इस प्रकार मेरे से कहे हुए उसके पूर्वभव के वृत्तान्त को तुम जब उस राजकुमार को कहोगे तो वह सचेत हो जायगा।"

केवली के वचनों को अंगीकार कर मंत्री आदि सब कुमार के पास आये और मंत्री ने उससे केवली द्वारा कहा हुआ सब वृत्तान्त सुनाया कि वह शीघ्र ही सचेत हो गया। फिर जाति-स्मरण प्राप्त होने से कुमार केवली को वंदना करने को आया। मुनि को वन्दना कर पूर्व कर्मों का क्षय करने के लिये उसने तुरन्त ही दीक्षा ग्रहण की। उसके साथ ही साथ उन मंत्री आदि ने वैराग्य प्राप्त कर चारित्र अंगीकार किया। राजकुमारी यशोमती यह वृत्तान्त सुन कर क्षणभर के लिये मूर्छित होगई परन्तु फिर तुरन्त ही सचेत होकर उसने भी संसार क्षणिक सुख से वैराग्य प्राप्त कर मां-बाप की आज्ञा से चारित्र ग्रहण किया। यह सब वृत्तान्त राजसेवकों ने जाकर धनद राजा से निवेदन किया।

[illegible]

[illegible]

लिये प्रार्थना की, इस पर वह कुमारी बोली कि मैं अभी अविवा-
हित हूँ, इससे स्पर्श करने अयोग्य हूँ। कहा भी है कि—

अस्पृशा गोत्रजा वर्णाधिकका प्रव्रजिता तथा।
नाष्टौ गम्याः कुमारी च, मित्रराजगुरुस्त्रियः ॥१॥

भावार्थ—अस्पृशा (चांडाल आदि अस्पर्श जाति की), एक गोत्रवाली, बड़ी आयुवाली, दीक्षित, कुमारी, मित्र की स्त्री, राजा की स्त्री और गुरु की स्त्री—ये आठ प्रकार की स्त्रियें अगम्य हैं अर्थात् परपुरुषों का इनको स्पर्श करना ही अयोग्य है।

यह सुन कर माली ने उससे कहा कि—जब तेरा विवाह हो तब तू प्रथम मेरे पास आना स्वीकार करे तो मैं इस समय तुझ को छोड़ सकता हूँ। यह शर्त मंजूर कर वह अपने घर लौट गई।

कुछ दिन बाद इस कन्या का विवाह एक योग्य पति के साथ हो गया। प्रथम रात्रि को ही उसने एकान्त में उसके पति से माली के साथ किये हुए वादे का हाल कहा। यह सुन कर उसके पति ने विचार किया कि–" अहो ! यह स्त्री सत्यप्रतिज्ञा जान पड़ती है।" यह सोच कर उसने उसको आज्ञा दी। आज्ञा पाकर वह स्त्री मणि, मोती और स्वर्ण के अलंकार तथा उत्तम वस्त्र पहन घर के बाहर निकल उद्यान की तरफ चली। मार्ग में उसको चोरों ने आघेरा और उसे सर्व वस्त्र तथा आभूषण उतार कर दे देने को कहा, इस पर उसने अपना सब वृतान्त उनको सुना कर कहा कि 'हे भाइयो ! मैं अभी जाकर वापिस आती हूँ उस समय तुम्हारे कहने के अनुसार करुंगी, अभी तो जाने दो।" यह सुन कर चोरोंने उसे जाने दिया। आगे बढ़ कर एक क्षुधापीड़ित राक्षस ने उसको देख कर रोका। उसको भी चोर के समान सत्य वृतान्त सुना कर पीछा लौटने का वचन देकर माली के पास पहुँची। माली को कहा कि–मैंने तुम्हें पहले वचन दिया था इससे उसको पूरा करने के लिये आज विवाहित होने से तेरे पास आई हूँ। यह सुन कर माली ने विचार किया कि 'अहो ! यह कैसी सत्यप्रतिज्ञ है ?' ऐसा विचार कर उसको अपनी बहन बना कर वस्त्रादि से सन्मान कर वापिस लौटाई। फिर वापिस लौटते समय उसने राक्षस के पास जा कर उसके पूछने पर माली का उसको बहन बनाना व वस्त्रादि देने का सर्व वृतान्त कहा। जिस को सुन कर राक्षस ने सोचा कि

भावार्थः—प्रकृति से ही अविनयवान (उद्धत) और गुरु के वचन से विपरीत वर्तन करनेवाला कूलवालक साधु संसारसागर में डूब गया जिसका दृष्टान्त इस प्रकार है:—

कूलवालक का दृष्टान्त

किसी आचार्य का एक अविनयी शिष्य था। उसको यदि आचार्य शिक्षा देते या ताड़ना करते तो वह उन पर क्रोधित होता था। एक वार आचार्य उस शिष्य को साथ ले कर उज्जयंत (गिरनार) गिरि की यात्रा करने को गये। वहां वह शिष्य यात्रालु स्त्रियों को कुदृष्टि से देखने लगा। यह देख कर गुरु ने उसको ऐसा करने से मना किया इस पर वह उन पर कोपायमान हुआ और यात्रा कर लौटने पर उनके पीछे रह कर उनको मारने के लिये उस दुष्ट शिष्य ने गुरु पर एक बड़ा पत्थर लुड़का दिया परन्तु वह पत्थर गुरु के दोनों पैरों के वीच में होकर निकल गया। उसके इस दुष्ट कृत्य को देख कर गुरु ने उसे श्राप दिया कि—हे दुरात्मा! तेरा स्त्री से विनाश होगा। यह सुनकर उसने ऐसे स्थान पर निवास करने का निश्चय किया कि जहां पर स्त्रियें न हों कि जिस से गुरु का श्राप मिथ्या सिद्ध हो। वह किसी नदी के अग्रभाग में विरान हिस्से में जाकर आतापना लेने लगा। उसके उग्र तप के प्रभाव से उस नदी ने उसकी ओर वहना बंध कर दूसरी ओर वहना आरम्भ किया इसलिये लोगों ने उस साधु का नाम कूलवालक रक्खा।

राजगृह नगरी के राजा श्रेणिक ने देवताओं द्वारा दी हुई दिव्य कुण्डल की जोड़ी, अठारह चक (सेर) का हार और दिव्य वस्त्रों सहित सेचनक हाथी भी अपने पुत्र हल्ल विहल्ल को दे दिया। इससे क्रोधित होकर कूणिक ने कुछ प्रपंच कर अपने पिता श्रेणिक को काष्ठ के पिंजरे में बन्दी बना दिया। राजा के परलोकवास होने के कुछ दिन बाद कूणिक ने नई चम्पापुरी नामक पुरी बसा कर उसमें अपने काल महाकाल आदि दस भाइयों सहित रहने लगा। बाद में उसकी रानी पद्मावती के सदैव के आग्रह से प्रेरित हो कर उसने हल्ल विहल्ल से हार आदि चारों वस्तुओं की याचना की। इस पर उन दोनों बुद्धिमान भाइयों ने यह विचार कर कि "यह याचना अनर्थ का मूल है" अपनी सब वस्तुओं को लेकर रात्रि के समय चुपके से वहां से निकल कर उनके मातामह चेटक राजा के पास विशाला नगरी में जाकर रहने लगे। कूणिक को इसकी सूचना मिलने पर उसने दूत भेज कर चेटक राजा को कहलाया कि "हल्ल विहल्ल को पीछे हमारे सुपुर्द करो" चेटक राजा ने उत्तर दिया कि "शरणागत दोहित्रों को मैं किस प्रकार सौंपूं ?" दूत ने जब यह संदेशा कूणिक राजा के पास पहुंचाया तो वह अत्यन्त क्रोधित होकर तीन करोड़ सुभटों की सेना सहित अपने सदृश बलवान काल महाकाल आदि दशों भाइयों को साथ लेकर चेटक राजा पर चढ़ाई करने के लिए प्रयाण किया। चेटक राजा ने भी उसके

सानन्त अठारह राजाओं सहित कूणिक का सामना किया। दोनों में परस्पर घमासान युद्ध हुआ। प्रथम दिवस के युद्ध में ही चेटक राजा ने देवताओं द्वारा दिये हुए अमोघ बाणद्वारा कालकुमार को यमपुरी में भेज दिया और दोनों लश्करों में युद्ध बन्द हो गया। इस प्रकार दस दिन में कूणिक के दशों भाइयों को चेटक ने मार डाला। चेटक राजा को प्रत्येक दिन एक ही बाण छोड़ने का नियम था। अपने दशों भाइयों का मारा जाना देख कर शोकसागर में निमग्न हुआ कूणिक चेटक राजा को दुर्जय मान कर अट्ठम तप द्वारा सौधर्मेन्द्र और चमरेन्द्र की आराधना करने लगा। अतः इन दोनों इन्द्रों ने आकर कूणिक से कहा कि "चेटक राजा जैनधर्मी है, इसलिये उसको हम नहीं मार सकते, परन्तु तेरे देह की रक्षा करेंगे।" बाद में चमरेन्द्र ने उसको महाशिलाकंटक और रथमुशल नामक दो संग्राम दिये अर्थात् दो प्रकार के युद्ध सिखाये। उनमें से पहले संग्राम में यदि शत्रु दल में एक कंकर डाला हो तो वह बड़ी शिला समान होकर शत्रु का नाश करता और एक कांटा डाला हो तो वह शस्त्ररूप होकर नाश करता था। उस संग्राम द्वारा कूणिक ने एक दिवस में चेड़ा राजा के चोरासी लाख सुभटों का विनाश किया। दूसरे दिन छिन्नु लाख योद्धाओं का विनाश किया। इससे त्रासित हो कर तीसरे दिन चेड़ा राजा ने श्रावक धर्म में दृढ़, निरन्तर छट्ठ तप के करनेवाले और महापराक्रमी नाग सारथी के पुत्र वरुण

नामक अपने सेनापति को कहा कि "हे वीर०! आज तो तू सचेत होकर युद्ध कर।" स्वामी की आज्ञा स्वीकार कर वरुण सेनापती कूणिक के सैन्य के साथ लड़ाई में जूंज गया। भवितव्यतावश कूणिक के सेनापति ने वरुण को बाण द्वारा मर्मस्थान में वेधित किया जिस से वरुण ने अपने रथ को दो तीन पग पीछे की ओर हटा कर तीव्र बाण द्वारा उस सेनापति को मार गिराया। फिर शीघ्र ही वह वरुण युद्ध भूमि से निकल दूर जाकर, दर्भ का संथारा बना उस पर बैठ कर, आलोचना प्रतिक्रमण कर समाधि-पूर्वक मृत्यु प्राप्त कर अरुणाभ नामक विमान में चार पल्योपम के आयुष्यवाला देव हुआ। वहां से चव वह वरुण का जीव महाविदेह में उत्पन्न होकर मोक्षपद को प्रात करेगा। (वरुण का सविस्तार चरित्र श्रीभगवती सूत्र से जाना जा सकता है)।

वरुण के जाने पर चेटक राजा ने कूणिक पर बाण फैंका परन्तु कूणिक के शरीर पर इन्द्रने वज्र का कवच रखा था इससे वह बाण उससे टकरा कर भूमि पर गिर पड़ा। चेड़ा राजा की एक ही बाण फैंकने की प्रतिज्ञा होने से उसने फिर दूसरा बाण नहीं छोड़ा। दूसरे दिन फिर उसने बाण फैंका तो वह भी निष्फल गया इससे चेड़ा राजा अपने अमोघ बाण द्वारा भी कूणिक को अजय जान कर पीछा लौट गया और विशाला नगरी में प्रवेश कर दरवाजे बन्द करवा दिये। इस पर कूणिकने उस नगरी के चारों ओर घेरा डाल दिया।

रात्रि के समय में हल्ल और विहल्ल सेचनक हाथी पर आरूढ़ होकर नगर से बाहर निकलें और गुप्त रीति से कूणिक के सैन्य में प्रवेश कर उस सेना का विनाश करने लगे। इस प्रकार प्रत्येक दिन अपने सैन्य का नाश होता देख कर कूणिकने अपने सैन्य के चारों ओर एक खाई खुदवाई और उसमें गुप्त रूप से खेर के अंगारे भरवा दिये। हल्ल विहल्ल को इसका पता नहीं होने से सदैव के नियमानुसार वे रात्रि के समय में सेचनक हाथी पर आरूढ़ होकर सैन्य के समीप आये। खाई के समीप आने पर हाथी ने विभंगज्ञान से जलते हुए अंगारे की गुप्त खाई को देख कर "इन हल्ल विहल्ल का विनाश न हो" इस हेतु से एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा। यह देख कर उन दोनों भाइयों ने अंकुश द्वारा उस पर प्रहार कर कहा कि "हे दुष्ट हाथी! आज तू प्रतिकूल आचरण करता है जो तेरे लिये अयोग्य है।" यह सुनकर उन दोनों को उसकी पीठ से भूमि पर उतार कर वह हाथी खाई में कूद पड़ा। उस खाई के अन्दर की अग्नि के ताप से भस्म हो कर मृत्यु को प्राप्त कर वह हाथी प्रथम स्वर्ग में देवता हुआ। इस प्रकार हाथी को मरा जान कर दोनों भाई खेदित होकर विचार करने लगे कि 'अहो'! हम इस पशु से भी अधम हैं कि जिससे इसके जितना भी हम न जान सकें, खैर परन्तु अब हम इस भयंकर पाप से किस प्रकार मुक्त होंगे?" इस प्रकार विचार करते हुए उन दोनों को वैराग्य उत्पन्न हुआ। इससे शासनदेवने उनको

तुरन्त ही उठा कर श्रीवीरप्रभु के पास खड़ा किया। उन दोनों ने भगवन्त के पास दीक्षा ग्रहण की और अनुक्रम से तपस्या कर दोनों भाई सर्वार्थसिद्ध विमान में देवता हुए।

इस ओर कूणिक राजा ने मन में ऐसी प्रतिज्ञा की कि "यदि मैं अपने तीक्ष्ण बाणोंद्वारा विशाला नगरी का तहसनहस न कर सकूंगा तो अग्नि में प्रवेश कर अपने आपको भस्म कर दूंगा।" ऐसी कठिन प्रतिज्ञा करने पर भी जब वह विशाला नगरी को जीत न सका तो वह अत्यन्त दुःखी हुआ।

इस समय गुरु की आज्ञा का भंग करनेवाला कूलवालक मुनि जो नदी के किनारे आतापना ले रहा था उस पर कुपित हुई शासनदेवी ने आकाश में रह कर कूणिक से कहा कि "यदि मागधिका नामक गणिका कूलवालक मुनि को चारित्र भ्रष्ट कर लावे तो उसकी सहायता से अशोकचन्द्र (कूणिक) राजा विशाला नगरी को जीत सकेगा। उसके बिना वह नगरी नहीं जीती जा सकेगी।" यह सुन कर राजा ने मागधिका गणिका को बुला कर सत्कारपूर्वक कूलवालक को भ्रष्ट कर लाने को कहा। वह बात अंगीकार कर कपट से श्राविका वेष पहन कर मागधिका नदी किनारे रही हुए उस मुनि के पास पहुंची। मुनि को वंदना कर वह बोली कि "हे मुनिराज! स्थान स्थान पर चैत्यों तथा मुनियों को वन्दना कर भोजन करने का मेरा नियम है। आप का यहां होना सुनकर मैं यहां वन्दना करने के लिये आई

हैं, अतः हे मुनिराज ! निर्दोष अन्न-जल ग्रहण कर मुझे कृतार्थ कीजिये।" ऐसा कर उसने नेपाला के चूर्ण से मिश्रित सुन्दर मोदक उसको वहराया, जिसके खाने से उसको शीघ्र ही अतिसार की व्याधि ने आघेरा। इससे उसने अन्य छोटी छोटी बाल-गणिकाओं के द्वारा उसकी वैयावच्च कराई कि जिससे वह मुनि अल्प समय में ही चारित्र से भ्रष्ट होकर उसके आधीन हो गया। फिर वह गणिका उसको लेकर कूणिक के पास आई। कूणिक ने कूलबालक से कहा कि–इस विशाला नगरी को जीतने का उपाय करो। कूणिक का वचन स्वीकार कर वह विशाला नगरी में गया। वहां सर्वत्र भ्रमण करते हुए एक स्थान पर उसने मुनिसुव्रत स्वामी का स्तूप देख कर विचार किया कि इस स्तूप के प्रभाव से इस पुरी को कोई नहीं जीत सकता है, इस-लिये सर्व प्रथम इसके भंग करने का कोई उपाय ढूंढ़ना चाहिये। ऐसा विचार कर ग्राम में इधर उधर फिरने लगा। उसको देख कर पुरवासियों ने उससे पूछा कि–हे मुनि! इस नगरी का उपद्रव कब शान्त होगा? इस पर उसने उत्तर दिया कि जब तुम इस स्तूप को उखाड़ कर फैंक दोगे तब तुम्हारा उपद्रव दूर हो जायगा। उसकी बात पर विश्वास कर पुरवासी उस स्तूप को उखाड़ने लगे और उनके भी विश्वास को और भी अधिक दृढ़ करने के लिये उस दुष्ट साधु ने कूणिक को कह कर उसकी सैन्य को दो कोस दूर हटा दिया। यह देख कर लोगों को मुनि के

[illegible] कूणिक [illegible]
[illegible]
[illegible] कूणिक [illegible]
[illegible]
[illegible] कूणिक [illegible]
[illegible] कूणिक राजा ने
[illegible]
आकर नगरी पर धावा किया और नागरिकों को नष्ट कर
दिया। उस समय भी महान् युद्ध हुआ। कूणिक और चेटक राजा
के युद्ध के समान युद्ध इस अवसर्पिणी में दूसरा कोई नहीं
हुआ। इस लड़ाई में एक करोड़ और अस्सी लाख सुभट खेत
रहे। उनमें से दस हजार सुभट मर कर एक ही मछली के
उदर में उत्पन्न हुए, एक देवलोक में गया, एक उच्च कुल में उत्पन्न
हुआ और अन्य सब नरकगति तथा तिर्यंचगति में उत्पन्न हुए।

फिर चेटक राजा नगरी बाहर निकला। उस समय कूणिक
ने उससे कहा कि पूज्य मातामह ! मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपका
पुत्र हूँ, मैं क्या करूँ ? चेटक ने उत्तर दिया कि "हे दौहित्र
(लड़की का लड़का)! एक क्षण भर खड़ा रह, मैं अभी इस
वाव में स्नान कर आता हूँ।" ऐसा कह कर चेटक राजा ने वाव में
जा, लोहे की मूर्ति को गर्दन में बांध कर समाधि में तत्पर होकर
वाव में कूद पड़े। उसी समय धरणेन्द्र ने उसको उठा लिया और
अपने भुवन (पाताल) में ले गया। वहां चेटक राजा अनशन
द्वारा कालधर्म प्राप्त कर सहस्रार देवलोक में इन्द्र के समानिक
देवता हुए।

फिर चेटकराजा का दौहित्र सुज्येष्ठा का पुत्र सत्यकि जो विद्याधर था वहां आकर समग्र नगरी के लोगों को नीलवंत पर्वत पर ले गया। फिर कूणिक राजा भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर अपनी राजधानी को लोट गया।

कूलवालक भी देवगुरु की आशातना करने से और मागधिका गणिका के संग से अनेक पापकर्म कर दुर्गति में गया।

हे भव्य प्राणियों! यदि तुमको मोक्षसुख प्राप्ति की अभिलाषा हो तो कूलवालक साधु का अति दुरन्त चरित्र पढ़ कर महाविपय विष समान गुरुमहाराज की आशातना का त्याग करो।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ प्रथमस्तंभे चतुर्दशं व्याख्यानम् ॥ १४ ॥

व्याख्यान १५ वां

चोथा तीन शुद्धि नामक द्वार के विषय में

मनोवाक्कायसंशुद्धिः, सम्यक्त्वशोधनी भवेत्।
तत्रादौ मनसः शुद्धिः, सत्यं जिनमतं मुणेत् ॥ १ ॥

भावार्थः—मन, वचन और काया की शुद्धि सम्यक्त्व का शोधन (शुद्ध) करनेवाली होती है। उसमें से पहिले मन की शुद्धि करना अर्थात् जिनमत को सत्य मानना चाहिये।

"जिनमत" अर्थात् जिनेश्वर प्ररूपेल समग्र पदार्थों के भाव को प्रगट करनेवाला द्वादशांगीरूप शास्त्र उसको सत्य मानना और अन्य सर्व लौकिक परतीर्थी शास्त्र-दर्शन असार है ऐसा समझना इसको मनःशुद्धि कहते हैं।

मनःशुद्धि पर पर जयसेना का दृष्टान्त

उज्जयिनी नगरी में संग्रामशूर नामक राजा राज्य करता था। उस नगरी में वृषभ नामक एक श्रेष्ठि रहता था जिसके जयसेना नामक स्त्री थी। वह समकितवंत तथा पतिव्रता थी। इसकी काफी आयु होने पर भी उसके कोई संतान नहीं हुई तो एक बार उसने अपने पति से कहा कि-हे स्वामिन्! संतति के लिये तुम एक और विवाह करो क्योंकि पुत्र रहित अपना कुल शोभायमान नहीं होता। कहा भी है:—

यत्र नो स्वजनसंगतिरुच्चै-
र्यत्र नो लघुलघूनि शिशूनि।
यत्र नास्ति गुणगौरवचिन्ता,
हन्त तान्यपि गृहाण्यगृहाणि ॥ १ ॥

भावार्थः—जिसके घर पर स्वजन एकत्रित होकर नहीं बैठते अर्थात् स्वजनों की संगति नहीं, जिस घर में छोटे छोटे बालक क्रीड़ा नहीं करते और जिस घर में गुण के गौरवपन का चिन्तवन नहीं होता वे घर घर की गिनती में नहीं हैं।

यह सुनकर श्रेष्ठी ने कहा कि–हे प्रिये ! तेरा कहना सत्य है परन्तु मेरे चित्त में विषयसुख की बिलकुल अभिलाषा नहीं है। इसे उसने कहा कि–हे स्वामी ! विषयसुख के लिये विवाह नहीं करना तो ठीक है परन्तु संतान के लिये फिर से विवाह करना कोई बुरी बात नहीं है। यह सुनकर श्रेष्ठी मौन रहा। इसलिये जयसेना ने स्वयं खोज कर किसी श्रेष्ठी की गुणसुन्दरी नामक कन्या की याचना की। याचना कर उसके साथ अपने पति का विवाह करा दिया। फिर शनैः २ जयसेना ने घर का सर्व कार्यभार गुणसुन्दरी को सौंप कर वह धर्म आराधना में तत्पर हो गई। कुछ समय बाद गुणसुन्दरी ने एक पुत्र का प्रसव किया।

एक बार गुणसुन्दरी की माता बंधुश्री ने पुत्री से पूछा कि "हे पुत्री ! तेरे पति के घर में तू सुखी तो है ?" गुणसुन्दरी ने उत्तर दिया "हे माता मुझे सौत पर विवाह कर फिर मेरे सुख की क्या बात पूछती हो ? प्रथम सिर मुंडा कर फिर नक्षत्र का क्या पूछना ? और पानी पी लेने के पश्चात् घर का क्या पूछना है ? मुझे तो पति के घर पर एक क्षण मात्र का भी सुख नहीं है। मेरा पति तो मेरी सौत पर ही आसक्त है।" बंधुश्री ने कहा कि–"हे पुत्री ! जो वह तेरी सौत राग से तथा कला से ऐसे वृद्ध पति को भी सहन करती है, खुश करती है तो फिर दूसरों की तो बात ही क्या करना ? जहां साठ साठ वर्ष के बड़े हाथियों को वायु उछाल दे, वहां गायों की तो गिनती ही क्या ? और

मच्छर आदि की तो बात ही क्या करना? फिर भी हे पुत्री! तू शान्ति रख। तेरी सौत के विनाश का मैं कुछ न कुछ उपाय अवश्य करूंगी। तू अभी तो घर चली जा।"

एक बार साक्षात् रुद्र (शिव) की मूर्ति के समान किसी कापालिक को देख कर बंधुश्री ने अपने कार्य साधना के इरादे से उसको अनेक रस संयुक्त भोजन कराया। कहा भी है कि:—

कार्यार्थी भजते लोको, न कश्चित् कस्यचित् प्रियः।
वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा, परित्यजति मातरम् ॥ १ ॥

भावार्थ:—लोग किसी न किसी स्वार्थ से ही दूसरे को चाहते हैं परन्तु स्वभाव से कोई किसी को प्रिय नहीं होता। बछड़ा भी दूध नहीं रहने पर अपनी माता गाय को त्याग देता है।

फिर वह योगी भी सदैव भिक्षा के लिये वहां आने लगा और बंधुश्री भी सदैव नई नई भिक्षा देने लगी। एक बार [illegible] करने के लिये योगी ने उसको कहा कि "हे माता! [illegible] कोई काम हो तो मुझको कहो जिसे मैं [illegible] करूंगा।" यह सुन कर बंधुश्री ने गद् गद् कंठ से अपनी पुत्री का [illegible] कह सुनाया, इस पर योगी ने स्वीकार किया कि "हे माता! [illegible]
[illegible]

करूँ तो मैं अग्नि में प्रवेश कर अपने आपको जला दूंगा।" ऐसी प्रतिज्ञा कर वह अपने आश्रम को चला गया।

कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि को उस योगी ने स्मशान में एक मुर्दा लाकर उसकी पूजा की और वैताली विद्या का जाप कर उस मुर्दे में वैताली को प्रत्यक्ष कराया अर्थात् प्रवेश कराया। इस पर उस वैताली ने कहा कि "हे योगी! जो काम हो सो कहो।" योगी ने उत्तर दिया कि "हे महाविद्या! जयसेना को मार डाल।" यह सुनकर वह वैताली योगी का वचन स्वीकार कर जयसेना के पास पहुँची तो उसने वहां जयसेना को सम्यक् प्रकार से निश्चल चित्त से कायोत्सर्ग में स्थित पाया। इसलिये वह वैताली धर्म की महिमा से उपद्रहित होकर जयसेना की प्रदक्षिणा कर पीछे स्मशान को लौट गई। उसको विकराल स्वरूप में आती देख कर वह योगी भय के मारे भाग गया दूसरे दिन फिर योगी ने उसी प्रकार वैताली विद्या को भेजा। उस समय भी वह विद्या जयसेना का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकी और अट्टहास्य करती हुई वापस लौट गई। इस प्रकार योगी ने उसको तीन बार भेजा लेकिन तीन ही बार असफल होकर वापस लौट आई। चौथी बार खुद के मरण के भय से ही योगी ने कहा कि "हे देवी! दोनों में से जो दुष्ट हो उसीको मार डालो।" यह सुनकर देवी जयसेना के पास पहुंची परन्तु उसको देवगुरु की भक्ति में तत्पर देख कर वहां से वापस लौट गई। लौटते समय घर के

कार इस स्थान पर मन शुद्धि की आवश्यकता होती है, अतः
ात्मार्थी मनुष्य को अवश्य मनःशुद्धि करनी चाहिये क्योंकि
त्यन्त आरंभी होने पर भी यदि मन की शुद्धि रक्खी हो तो
ह अवश्य मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है।

इस प्रसंग पर निम्न लिखित आनन्द श्रावक का अधिकार
पलब्ध है:—

आनन्द श्रावक का दृष्टान्त

राजगृह नगरी में आनन्द नामक एक कुटुम्बी रहता था।
ह एक वार गुणशील नामक चैत्य में श्रीवीर प्रभु का आगमन
ुनकर अपने कुटुम्ब सहित पैरों चल कर केवली के ईश
गवान के पास पहुंचा। प्रभु को वन्दना कर अनेकांत मत का
थापन करनेवाली वाणी को सुनने से उसको प्रतिबोध प्राप्त
ुआ, इससे उसने समकित सहित देशविरति ग्रहण की। उसमें
थम द्विविध, त्रिविध कर स्थूल जीवहिंसादिक पांच अणुव्रत
ग्रहण किये। उसके चौथे व्रत में अपनी स्त्री के अतिरिक्त अन्य
र्व स्त्रियों का त्याग किया। पांचवें व्रत में अपनी इच्छानुसार
्व्य का (परिग्रह का) प्रमाण किया कि—नकद धन में चार
करोड़ सोनामहोर निधान में, चार करोड़ व्याज कमाने में और
चार करोड़ व्योपार में रखना, इससे अधिक नहीं रखना। दस
हजार गायों का गोकुल कहलाता है ऐसे चार गोकुल, एक हजार

अन्न में वड़ा, फल में चीरामलक (मीठा आंवला), जल में आकाश से पड़ा हुआ पानी, मुखवास में जायफल, लवंग, इलायची, कक्कोल और कपूर इन पांच वस्तुओं से मिश्रित तंबोल—इतनी चीजों को उपयोग में लाना और इनके अतिरिक्त अन्य सब चीजों का त्याग करना निश्चय किया।

इस प्रकार उसने जिनेश्वर से बारह व्रत ग्रहण किये। (अन्य व्रतों का स्वरूप आगे बतलाया जायगा) फिर नवतत्त्व का स्वरूप जानकर वह आनन्द श्रावक अपने घर आकर अपनी शिवानन्दा नामक स्त्री से कहने लगा कि "हे प्रिये! मैंने आज जैनधर्म अंगीकार किया है। तू भी प्रभु के पास जाकर उस उत्तम धर्म को स्वीकार कर।" यह सुनकर शिवानन्दा शीघ्र ही अपनी सखियों सहित प्रभु के पास गई। जिनेन्द्र को वन्दना कर देशना श्रवण कर उसने भी श्रावकधर्म अंगीकार किया।

इस प्रकार देशविरति धर्म के पालन करने में तत्पर उन दम्पत्ति ने चौदह वर्ष व्यतीत किये। एक बार मध्यरात्रि में जागृत हुआ आनन्द श्रावक धर्मचिन्तवन करने लगा कि "अहो! मेरी आयु रागद्वेष में—प्रमाद में बहुत व्यतीत हो गई है। कहा भी है कि:—

लोकः पृच्छति मे वार्तां, शरीरे कुशलं तव।
कुतः कुशलमस्माकमायुर्याति दिने दिने॥ १॥

[illegible]

[illegible]

उसने प्रथम छः आगार रहित तथा शंका, कांक्षादि पांच अतिचार रहित सम्यक्त्व नामक पहली प्रतिमा को एक मास तक धारण किया। फिर पूर्व की (प्रथम प्रतिमा) क्रिया सहित बारह व्रत के पालनस्वरूप दूसरी प्रतिमा को दो महीने तक धारण किया। फिर पूर्व की क्रिया सहित सामायिक नामक तीसरी प्रतिमा को तीन महीने तक वहन किया। फिर पूर्व की क्रिया सहित चार महीने तक चार पर्वणीए[1] पौषध करते हुए पौषध नामकी चौथी प्रतिमा को वहन किया। फिर पांच महीने तक उन चारों पर्वणी के पौषध में रात्रि के चारों पहर में कायोत्सर्ग कर कायोत्सर्ग नामक पांचवीं प्रतिमा को धारण किया। फिर छ मास तक अतिचार दोष रहित ब्रह्मचर्य का पालन

---

१ अष्टमी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या—ये चार पर्वणी इनमें से अष्टमी, चतुर्दशी दो दो होने से कुल छ दिन गिनना।

कर छठी प्रतिमा वहन की। फिर सात महीने तक सातवीं सचित्त के वर्जन करनेरूप प्रतिमा धारण की। फिर आठ महीने तक स्वयं समय आरम्भ नहीं करने रूप आठवीं आरम्भ त्याग नामक प्रतिमा को धारण किया। फिर सेवक द्वारा भी कोई आरम्भ नहीं करने रूप नवमीं प्रतिमा को नौ मास तक वहन किया। फिर खुद के निमित्त बनाया हुआ भोजन नहीं करनेरूप दसवीं प्रतिमा का दस महीने तक वहन किया। फिर अन्त में ग्यारहवीं प्रतिमा को ग्रहण किया जिसका स्वरूप निम्न प्रकार से है:—

खुरमुंडो लोएण वा, रयहरणं उग्गहं च घेत्तूणं ।
समणभूओ विहरइ, धम्मं काएण फासंतो ॥ १ ॥

"छुरा (Razor) से मुण्डन कराकर अथवा लोचकर रजोहरण तथा पात्रादिक ग्रहण कर, काया द्वारा धर्म का पालन करता हुआ साधु के समान विचरण करे और कुटुम्ब में 'प्रतिमाप्रपन्नस्य श्रावकस्य भिक्षां देहि" इस प्रकार पुकार कर भिक्षा मांगे।"

इस प्रकार ग्यारहवीं प्रतिमा को ग्यारह महीने तक वहन किया। इस ग्यारहवीं प्रतिमा में पिछली पिछली सर्व प्रतिमाओं को एकत्रित समझकर उन सब अतिचारों रहित ही इसका पालन करना चाहिये। ग्यारह प्रतिमाओं को वहन करते हुए पांच वर्ष

व्याख्यान १७ वां

वचनशुद्धि विषे

जीवाजीवादितत्त्वानां, प्ररूपकं सदागमम् ।
तद्विपरीतं वदेन्नाथ, सा शुद्धिर्मध्यमा भवेत् ॥ १ ॥

भावार्थः—जीव, अजीव आदि तत्त्वों की प्ररूपणा करने वाले आगम में जो उनका स्वरूप कहा गया हो उसी प्रकार समझना चाहिये। उससे विपरीत नहीं करना, उसका नाम वचन शुद्धि है।

सदानेन गृहारंभो, विवेकेन गुणव्रजः ।
दर्शनं मोक्षसौख्यांगं, वचःशुद्धयैव लक्ष्यते ॥ १ ॥

भावार्थः—गृहस्थाश्रम सद्दानद्वारा, गुणसमूह विवेक-द्वारा और मोक्षसुख के अंगभूत दर्शन (समकित) वचन की शुद्धि द्वारा दिखाई देता है अर्थात् दान, विवेक और वचनशुद्धि द्वारा ही गृहस्थपन, गुणसमूह और समकित के होने का निश्चय होता है।

इस प्रकार प्रसंग पर संप्रदायागत कालिकसूरि का प्रबन्ध प्रशंसनीय है:—

कालिकाचार्य का दृष्टान्त

दत्तराजा के मामा कालिकसूरि के समान महापुरुष संकट में भी असत्य भाषण नहीं करते हैं। चन्दन की बू शिला पर घिसने से ही जानी जा सकती है और इक्षुका (Sugarcane) का मधुर रस उसके पीले जाने पर ही निकलता है।

तुरमणि नामक नगर में कालिक नामक एक ब्राह्मण रहता था, जिसकी बहिन का नाम भद्रा था। उसके दत्त नामक एक पुत्र था। कालिक द्विज ने कुछ समय तक गुरु के पास धर्मोपदेश सुन कर वैराग्य प्राप्त होने से चारित्र ग्रहण किया। इससे दत्त किसी का अंकुश नहीं रहने से उद्धत हो गया और सातों व्यसनों का शिकार हो गया। कुछ समय बाद वह दत्त उस नगर के जितशत्रु नामक राजा का सेवक हुआ। उसकी सेवा से प्रसन्न होकर राजा ने उसको अनुक्रम से अपना प्रधान बनाया। फिर धीरे धीरे सम्पूर्ण राजवर्ग को अपने पक्ष में लेकर दत्त ने राजा को पदभ्रष्ट कर स्वयं राजा बन बैठा। वह परलोक का किञ्चित् मात्र भी भय न रख कर आश्रव के कार्यों में द्रव्य को व्यय करने लगा, बड़े बड़े यज्ञ कर अनेकों जीवों की हिंसा करने लगा और उसमें बलिदान होनेवाले मूक पशुओं को देखकर अत्यन्त हर्षित होने लगा।

इधर कालिक मुनि के बहुश्रुत होने से गुरुने उसे सूरि-पद प्रदान किया। एक बार विहार करते हुए कालिकाचार्य तुरमणि

नगर के उद्यान में आये। उनका आगमन सुनकर दुष्ट दत्त राजा अपनी माता के आग्रह से उसको वन्दना करने को गया। मामा को वन्दना कर दत्त उनके सन्मुख आसन पर बैठ गया। फिर उसने सूरि से प्रश्न किया कि "हे मामा! यज्ञ करने से क्या फल मिलता है?" उसके उत्तर में गुरुने जीवदयारूप धर्म का उपदेश किया। तब दत्तने फिर कहा कि "हे पूज्य! मैं धर्म के विषय में प्रश्न नहीं करता हूँ, मैं तो यज्ञ के फल के विषय में पूछता हूँ।" इस प्रकार दत्त के बारंबार पूछने पर गुरुने उत्तर दिया कि "हे दत्त! क्या तू नहीं जानता है कि यज्ञ का फल नरकगमन ही है और इस लिये तुझे भी नरक ही में जाना पड़ेगा क्यों कि लौकिक शास्त्र में भी कहा है कि—

अस्थ्नि वसति रुद्रश्चा, मांसे चास्ति जनार्दनः।
शुक्रे वसति ब्रह्मा च, तस्मान्मांसं न भक्षयेत् ॥१॥
तिलसर्षपमात्रं तु; मांसं यो भक्षयेन्नरः।
स नरो वर्तते, नरके; यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥२॥

भावार्थः—प्राणियों की हड्डियों में महादेव, मांस में जानार्दन (विष्णु) और वीर्य में ब्रह्मा निवास करते हैं अतः मांसभक्षण नहीं करना चाहिये। जो मनुष्य तिल और सरसों के दाने जितना भी मांस खाता है वह जब तक आकाश में सूर्य चन्द्र स्थित हैं तब तक नरक में रहता है।

अपितु हे दत्त राजा! तू आज के सातवें दिन कुंभिपाक की वेदना भोग कर नरकगामी होगा।" यह सुन कर क्रोधित हुए दत्तने पूछा कि–" इस पर विश्वास क्यों कर हो?" सूरिने कहा मनुष्य कि–' तेरी मृत्यु के समय से पूर्व तेरे मुंह में मनुष्य की विष्टा गिरेगी।" दत्तने क्रोध से भर कर पूछा कि–"हे मामा! तब तुम्हारी क्या गति होगी?" गुरुने कहा कि–"मैं तो स्वर्ग में जाउंगा।" यह सुन कर दत्त राजा गुरु का खड्ग से प्रणान्त करने की इच्छा करता हुआ विचारने लगा कि– "यदि मैं सात दिन से अधिक जीवित रहा तो फिर अवश्य इसको मारडालूंगा। यह विचार कर सूरि को सात दिन तक नहीं जाने देने के लिए पहरे में रख कर स्वयं अपने महल में चला गया, किन्तु उसने सूरि के वचन को मिथ्या करने के लिये एक करोड़ सुभटों को उसके चारों ओर पहरा लगाने के लिए नियुक्त कर दिया और राजमहल तथा राजमार्ग को पूर्णतया साफ कराकर किसी भी स्थान पर किञ्चन्मात्र अशुचि न रहे इसका पूरा बन्दोबस्त कर दिया। इस प्रकार उसने छ दिन महलों में रह कर ही निर्गमन किये। सातवें दिन उसको भ्रान्ति होने से उससे सात दिन समाप्त हो गये हैं ऐसा जाना और उसको आठवां दिन जान कर अश्वारूढ़ हो हर्षपूर्वक वह राजमार्ग से निकला। उस समय एक माली पुष्पों से भरा टोकरा लेकर राजमार्ग में जा रहा था। उसको भेरी आदि के शब्दों के सुनने से अकस्मात् शौच जाने की प्रेरणा

सका इस लिये राजमार्ग में ही उसने यत्न पूर्वक मलोत्सर्ग कर लिया और उस पर पुष्पों का ढेर लगा कर वह आगे चला गया। उसी समय दत्त राजा उस ओर निकला जिसके घोड़े का पैर उस पुष्प के ढेर पर गिरा। इससे उसमें से विष्टा उछल कर उसका छींटा राजा के मुंह में गिरा। इससे आचार्य के कहे वचनों पर विश्वास होने से उसने अपने सेवकों से पूछा कि आज कौनसा दिन हुआ? उस पर उन्होंने उत्तर दिया कि आज सातवां दिन है। यह सुन कर राजा लज्जित होकर वापिस लौटा।

दत्त राजा जब सूरि पर क्रोधित होकर राजमहल में आकर छः दिन तक एकान्त में ही रहा उस समय सर्व राजवर्गी दत्त से विरुद्ध होकर जितशत्रु को गद्दी पर बिठाने की कोई युक्ति ढूंढ रहे थे इससे सातवें दिन ज्योंही दत्त बाहर निकला कि शीघ्र ही उन्होंने जितशत्रु राजा को बन्धनमुक्त कर महलों में प्रवेश कराया। फिर जब दत्त मुंह में विष्टा गिर जाने से वापिस लौट कर राजमहल के समीप पहुँचा तो उस राजवर्गी ने दत्त को पकड़ बांध कर जितशत्रु को स्वाधीन किया। उसको देख कर कुपित हुए जितशत्रु ने उसको कुंभीपाक में डाल कर भून दिया। इससे दुर्गति का अनुभव कर दत्त मृत्यु प्राप्त कर नरक का अतिथि बना। कालिकसूरि आयुष्य का अन्त आ जाने पर स्वर्गगति को प्राप्त कर [illegible] हुए।

इस कालिकाचार्य के दृष्टान्त को सुन कर सर्व प्राणियों को [illegible] सत्य भाषण करना चाहिये, [illegible]

कि वचनशुद्धि से इस लोक में राजादिक से सन्मान मिलता और परलोक में स्वर्ग का सुख मिलता है।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासाद वृत्तौ द्वितीयस्तंभे सप्तदशं व्याख्यानम् ॥ १७ ॥

व्याख्यान १८ वां

तीसरी कायशुद्धि

खड्गादिभिर्भिद्यमानः, पीड्यमानोऽपि बन्
जिनं विनान्यदेवेभ्यो, न नमेत्तस्य सा भ

भावार्थः—खड्गादिक से छेदे जाने और बन्धनों से बांधे जाने पर भी जो मनुष्य श्रीजिनेश्वर के अतिरिक्त अन्य देव के आगे सिर न झुकावे उसे कायशुद्धि कहते हैं।

खड्ग आदि हथियारों से छेदे जाने और रज्जु, वेड़ी आदि वन्धनों से बांधे जाने तथा महान् संकट के उपस्थित होने पर भी जो पुरुष श्री जिनेन्द्र अतिरिक्त बुद्ध शंकर, स्कंद आदि अन्य देवताओं को नमस्कार नहीं करता है उस सम्यग्दृष्टि प्राणी को तीसरी कायशुद्धि होना जानना चाहिये। इस प्रसंग पर निम्नस्थ वज्रकर्ण का दृष्टान्त है;—

जस्सारिहंते मुणिसत्तमेसु,
मोत्तु नामेइ सिरो परस्स
निव्वाणसुक्खाण निहाणठाणं,
तस्सेव सम्मत्तमिणं विसुद्ध ॥ २ ॥

भावार्थः—रागद्वेषवर्जित श्रीजिनेश्वर को देव, चा[rest cut off] रहस्य के निधि समान साधुओं को गुरु और जीवादिक [cut off] तत्त्वों के शुद्ध स्वरूप को धर्म जान कर-उनकी सद्दहणा र[cut off] सब से मुख्य समकित कहलाता है। अरिहंत और उत्तम साधु[cut off] को छोड़ कर अन्य किसी को जो मनुष्य मस्तक नहीं झुकाता उसी को निर्वाण सुख के निधानस्थानरूप यह विशुद्ध समकि[cut off] प्राप्त हो गया है ऐसा समझना चाहिये।

इत्यादि धर्मोपदेश सुनने से राजा वज्रकर्ण को प्रतिबो[cut off] प्राप्त हो गया जिससे उसने गुरुके पास समकित के मूल बारह व्रतों को अंगीकार किया जिसमें विशेषत्या जिनेश्वर तथा मुनिराज के अतिरिक्त अन्य किसी को भी नहीं नमने का नियम ग्रहण किया। फिर वह अपने नगर में गया। घर जाने पर उसको विचार हुआ कि-मैं अवन्ति के सिंहरथ राजा का सेवक हूँ इस लिये मुझको उसे अवश्य प्रणाम करना पड़ेगा और ऐसा करने पर मेरा नियमभंग होगा। ऐसा विचार कर उसने अपने हाथों में पहनने को एक अंगूठी बनाई और उसमें मुनिसुव्रतस्वामी की

एक प्रतिमा बनवाई। फिर जब सिंहरथ के पास जाता तब उस अंगुठी को सन्मुख रख कर प्रणाम करता अर्थात् वह मनद्वारा तो जिनेश्वर को ही प्रणाम करता था और बाहर से (देखने में) सिंहरथ राजा को प्रणाम करता हुआ दिखाई पड़ता था।

एक वार किसी दुष्ट ने यह सब वृत्तान्त सिंहराजा से निवेदन किया जिसको सुन कर राजाने विचार किया कि–अहो! वज्रवर्ण कैसा कृतघ्नी है? वह मेरा राज्य भोगता है फिर भी मुझे प्रणाम मात्र नहीं करता, इसलिये इस दुष्ट को दंड देना ही न्याय है। ऐसा विचार कर उसने संग्राम के लिये रणभेरी बजवाई।

उस समय किसी पुरुष ने वज्रकर्ण को जाकर कहा कि–हे साधर्मी वज्रकर्ण राजा! तुमको जैसा अच्छा लगे वैसा करो। सिंहरथ राजा तुझ पर चढाई कर आ रहा है। वज्रकर्ण ने पूछा कि-तू कौन है? और कहां रहता है? उसने उत्तर दिया कि–हे देव! मैं कुन्डनपुर का रहनेवाला वृश्चिक नामक श्रावक हूँ। एक वार मैं बहुतसा सामान लेकर उज्जैनी[1] नगरी में गया था। वहां एक दिन वसन्तोत्सव में अनंगलता नामक गणिका को देख कर मैं उन पर मोहित हो गया इसलिये मैंने अपना सारा धन उसको दे दिया और मैं उसके साथ विषयसुख भोगने लगा। एक वार उस गणिका ने सिंहरथ राजा की राणी के आभूषणों को देख

१ अवन्ति और उज्जेनी दोनों का एक ही अर्थ है।

भावार्थः—शंका आकांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और उसका संस्तव (परिचय आदि)-ये पांच समकित को दूषित करने वाले) अतिचार) हैं।

श्रीअरिहन्त के प्ररूपित धर्म के विषय में सन्देह बुद्धि रखना शंका कहलाती है। वह देश से और सर्व से दो प्रकार का है। देश शंका अर्थात् जिनेश्वर प्ररूपित सर्व पदार्थों में श्रद्धा रखले किन्तु अमुक एक या दो स्थान पर शंका करे। जैसे कि-जीव है यह बात तो सत्य है परन्तु वह सर्वगत होगा या असर्वगत ? सप्रदेशी होगा या अप्रदेशी ? आदि एक आधयंश में शंका करनी यह देश से शंका होनी कहलाती है और सर्व से शंका अर्थात् तीर्थंकरभाषित सर्व पदार्थों में शंका करनी ये दोनों प्रकार की शंका सम्यक्त्व के लिये दूषणरूप है।

शंका पर दो बालकों का दृष्टान्त।

किसी ग्राम में किसी स्त्री के दो पुत्र थे। जिनमें से एक उसकी शौत का था और दूसरा उसका खुद का था। वे दोनों लड़के एक दिन पाठशाला से घर पर आये। उनको उस स्त्री ने माषपेया (उड़द की रावड़ी) खाने को दी। उसको खाते खाते उसमें काले छिलके देखकर शौत का पुत्र विचार करने लगा कि इस रावड़ी में मक्खियां हैं, मेरी माता की शौत होने से इसने मुझे मक्खियां डाल कर यह रावड़ी देना जान पड़ता है। इस

उसने सर्व में से अन्तिम एक एक अवयव लेकर उसके पात्र में रक्खा अर्थात् पक्वान, शाक आदि का एक एक कण रक्खा, दाल, कढ़ी, जल आदि का एक एक बिन्दु रक्खा और वस्त्रों में से एक एक अन्तिम तंतु निकाल कर रक्खा। फिर उस श्रावक ने नमस्कार किया और अपने सर्व बन्धुजनों को कहा कि-तुम इस साधु को वन्दना करो। मैंने आज इनको परिपूर्ण प्रतिलाभ्या है। मैं आज अपनी आत्मा को धन्य और पुण्यवान मानता हूं क्योंकि गुरु स्वयं ही मेरे घर पर पधारे हैं। यह सुनकर तिष्यगुप्त बोला कि-हे श्रावक! ऐसा एक एक कण देकर हंसी की है यह तुझे योग्य नहीं है। श्रावक ने उत्तर दिया कि-हे पूज्य! आपका ही यह मत है। यह यदि सत्य हो तो इन लड्डू तथा भात आदि के अन्तिम अवयव से आपकी तृप्ति होनी चाहिये और यह एक अन्तिम वस्त्र-तंतु शीत का रक्षण करनेवाला होना चाहिये। यदि ऐसा न हो तो आपका कहा हुआ सब झूठ सिद्ध होगा। यह सुनकर तिष्यगुप्त प्रतिबोध को प्राप्त हुआ और बोला कि-हे श्रावक! तूने मुझे सच्चा बोध कराया है। श्री वीर भगवान के वाक्य में पड़ी हुई मेरी शंका अब दूर हो गई है। तब उस श्रावक ने भक्तिपूर्वक उत्तम प्रकार से उसे पडिलाभ्यां। तिष्यगुप्त गुरु के पास जाकर आलोयणा, प्रतिक्रमण कर श्रीजिनेश्वर की आज्ञानुसार विचरने लगा। गुरु के चरणों में वर्तते सम्यग् मार्ग को प्राप्त कर उसका प्रतिपालन कर वह स्वर्ग में गया।

व्याख्यान २० वां

अब आकांक्षा दोष को स्पष्ट किया जाता है:-

देशतः सर्वतो वाप्यभिलाषः परदर्शने ।
स आकांक्षाभिधो दोषः, सम्यक्त्वे गदितो जिनैः ॥ १ ॥

भावार्थः—देश से अथवा सर्व से अन्य दर्शनों में अभिलाषा होने को जिनेश्वर ने समकित में आकांक्षा नामक दोष होना बतलाया है।

किसी दर्शन में कोई जीवदया आदि का उत्तम विषय देख कर उस दर्शन की अभिलाषा हो जाना वह आकांक्षा कहलाती है। उसमें देश से आकांक्षा अर्थात् किसी एक ही दर्शन की अभि-

लाषा होना और सर्व से आकांक्षा अर्थात् सर्व पाखंडी धर्मों की अभिलाषा होना। जैसे बौद्ध धर्म अच्छा है क्योंकि उसमें किसी को भी कष्ट पहुंचाना मना है, इसी प्रकार कपिल और द्विजादिक के धर्म में यहां विषयसुख का भोगनेवाला परभव में भी सुख को प्राप्त करता है ऐसा कहा गया है इसलिये वह धर्म भी उत्तम है। इस प्रकार के विचार एकान्त सुख प्राप्त करानेवाले जैन दर्शन को दूषित करते हैं। इसका भावार्थ जितशत्रु राजा और उस के मंत्री के दृष्टान्त से स्पष्ट है—

जितशत्रु राजा और उसके मंत्री की कथा।

सर्व प्रकार के कल्याण का स्थानभूत वसंतपुर नगर है, जहां जितशत्रु नामक राजा राज्य करता है। उसके मतिसागर नामक मंत्री है। एक बार राजा ने चन्द्रमा के किरण के सदृश श्वेत रंग के दो अश्वों को देख कर प्रसन्न हो उनके मालिक को उसका मूल्य चुका कर उनको खरीद लिया। बाद में उनकी परीक्षा करने के लिये मंत्री सहित दोनों उनपर सवार होकर मंडलिभ्रमादि गति कराने लगे। उस समय वन में रहनेवाले लोगोंद्वारा त्रसित किये जाने से, वे अश्व कुशिष्य के समान विपरीत शिक्षा पाये हुए होने से, पवन गति के समान दौड़कर उनको किसी बड़े भयंकर जंगल में ले गये। वहां श्रम और क्षुधा से पीड़ित राजा और मंत्री ने वन के फल खाकर कई दिन निर्गमन किये। कई दिन गुजरने पर उनका सैन्य जो उनको ढूंढते ढूंढते उनके पीछे

आता था उनसे मिला, जिसके साथ राजा तथा मंत्री अपने नगर में गये। तब राजा ने बुद्धिहीन होने से अपने रसोइये को तत्काल आदेश दिया कि-मेरे लिये सर्व प्रकार के पकवान तथा शाक आदि तैयार करो, क्योंकि मैं बहुत दिनों का भूखा हूं। रसोइये ने राजा की आज्ञानुसार भिन्न भिन्न प्रकार के पकवान बनाकर राजा के सामने रक्खे। राजा तो क्षुधापीड़ित था इसलिये जैसे वड़वानल समुद्र का पान करने पर भी तृप्त नहीं होता उसी प्रकार राक्षस के समान सर्व आहार करने पर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। अन्त में अधिक आहार करने से उसके पेट में शूल उत्पन्न हुआ और उसकी व्यथा से उसी रात्रि को उसका प्राणान्त हो गया। उनका मंत्री तो घर जाकर थोड़ा थोड़ा पथ्य भोजन करने लगा और साथ ही वमन तथा विरेचन भी लेने लगा अर्थात् भोजन पर अति आकांक्षा न रखने के अतिरिक्त पथ्य भोजन करने से वह सुखी हुआ।

इस दृष्टान्त का यह सार है कि-राजा और मंत्री के स्थान पर जीव है जिनमें कई राजा जैसे जीव कुछ तपस्या आदि बाह्य गुण देखकर भिन्न भिन्न दर्शनों की आकांक्षा करते हैं वे राजा के समान बिना तृप्ति पाये ही मृत्यु को प्राप्त होकर दुर्गति के भाजन होते हैं और जो स्याद्वाद-अनेकांत धर्म में निश्चल रहते हैं वे मंत्री के समान सुखी होते हैं।

इस प्रसंग पर निम्न लिखित एक और दूसरा दृष्टान्त है-

सर्व देव की भक्ति करनेवाले श्रीधर श्रावक का दृष्टान्त

गुणदोषापरिज्ञानात्, सर्वदेवेषु भक्तिमान् ।
यः स्यात् श्रीधरवत्पूर्वं, स तु नैवाश्नुते सुखम् ॥ १ ॥

भावार्थः—विना गुण दोष के जाने हुए जो पुरुष देवों में प्रथमावस्था में श्रीधर समान भक्तिमान् होता है, वह परिणाम में सुख नहीं पा सकता।

गजपुर में श्रीधर नामक एक वणिक रहता था। वह स्वभाव से ही भद्रिक था। उसने एक वार एक मुनि द्वारा जैन धर्म को श्रवण किया। तभी से वह सदैव श्री जिनेश्वर की त्रिकाल पूजा करने लगा। एक वार उसने श्री प्रभु को धूप कर अभिग्रह किया कि–यह धूप जब तक जलती रहेगी तब तक मैं बिना हिले-डुले निश्चल बैठा रहूँगा। देवयोग से वहां एक सर्प निकला उस पर भी श्रीधर निश्चल हो बैठा रहा। सर्प उसके पास काटने को जाता है कि श्रीधर के सत्त्व से तुष्टमान हुई देवी ने उस दुष्ट सर्प को हटाकर उसके मस्तक की मणि लेकर श्रीधर को दे दी, जिस मणि के प्रभाव से श्रीधर के घर में वृष्टि से उत्पन्न हुई लता के समान लक्ष्मी की वृद्धि होने लगी।

एक वार उसके कुटुम्ब में किसी प्रकार की व्याधि आने से किसीने उससे कहा कि–गोत्रदेवी की पूजा करने से गोत्र में कुशलता रहती है। यह सुनकर भद्रिक श्रीधर ने गोत्रदेवी की पूजा

कर्मों को क्षीण करने वाले और कृपा के अवसर त्रिकाल ज्ञानी सर्वज्ञ की अर्चा कर कि जिससे दोनों भवमें सुखसम्पत्ति प्राप्त हो। यह सुन कर श्रीधरने वैसा ही किया। तब आकांक्षा रहित दृढ़ निश्चयवाला जान कर शासनदेवी ने उसको फिर से मणि प्रदान की जिससे वह फिर समृद्धिवान हो गया और परभव में आसन्नसिद्ध हुआ अर्थात् थोड़े ही समय में सिद्धि पद को प्राप्त हुआ।

हे भव्य जीवों ! शास्त्रनिंद्य ऐसे आकांक्षा दोष का सेवन करने वाला मनुष्य श्रीधर के समान हास्य का पात्र बनता है, अतः जिनशासन को जाननेवाले को इस दोष से दूर रहना चाहिये।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ द्वितीयस्तंभे विंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २० ॥

व्याख्यान २१ वां

तीसरा विचिकित्सा दोष

देशतः सर्वतो वापि, कृतक्रियाफलं प्रति ।
क्रियते बुद्धि सन्देहो, विचिकित्साभिधः स कः ॥१॥

भावार्थ;—जो दृढ़ धर्मक्रिया के फल के विषय में [illegible] अथवा सर्व में तत्व में सन्देह करना विचिकित्सा नाम [illegible] कहलाता है।

की हुई खेती आदि लौकिक क्रिया के फल के समान
ामायिक आदि धर्मक्रिया करने का फल मुझे प्राप्त होगा या नहीं ?
त प्रकार की शंका करना विचिकित्सा कहलाती है।

यहां पर यदि किसीको यह शंका हो कि "शंका नामक
ो पहला दोष बतलाया गया था उसमें और इस विचिकित्सा में
या फर्क है ?" तो कहना है कि शंका तो द्रव्यगुणपर्याय सर्व
दार्थों में होती है अर्थात् धर्मास्तिकायादि द्रव्यों में, इनके गुणों
और पर्याय में अनेक प्रकार की उत्पन्न होती है किन्तु यह
वचिकित्सा तो केवल की हुई क्रिया मात्र में ही उत्पन्न होती है,
पतः शंका और विचिकित्सा के विषय एक दूसरे से भिन्न हैं।
पथवा अन्य शब्दों में विचिकित्सा अर्थात् मुनि का मैल आदि
े मलिन शरीर देख कर उसकी जुगुप्सा-निन्दा करना । जिस
प्रकार कि ये मुनिजन प्रासुक जल से शरीर का प्रक्षालन (स्नान)
करें तो इसमें क्या दोष है ? ऐसा विचार कर उनकी जुगुप्सा
करना भी विचिकित्सा कहलाती है। यह विचिकित्सा श्रीजिनेश्वर
प्ररूपित धर्म पर अनास्ता (अश्रद्धा) रूप होने से समकित को
दूषित करने वाली है। इस विषय में दुर्गंधा रानी का दृष्टान्त
कहा जाता है:—

दुर्गंधा राणी का दृष्टांत

राजगृह का राजा श्रेणिक एक वार उद्यान में समवसरित
श्री वीर प्रभु को वन्दना करने निमित्त अपने सैन्य सहित जा रहा

मन्थरगतिर्मत्तेभकुम्भस्तनी ।
बिंबोष्टी परिपूर्ण-
चन्द्रवदना भृङ्गालिनीलालका ॥ १ ॥

भावार्थ—वह सुन्दर स्त्री युवावस्था से सुशोभित, अति मिष्ट वचनवाली, सौभाग्यरूप भाग्य की उदयवाली, कर्ण पर्यंत दीर्घ नेत्रवाली, सिंह सदृश कृश कटिप्रदेशवाली, प्रगल्भपन के गर्व से युक्त, बाल राजहंस के सदृश मंद एवं मनोहर सुन्दर चालवाली, मदोन्मत्त हाथी के कुम्भस्थल जैसे पुष्ट स्तनवाली, पके हुए बिंबफल के सदृश रक्त ओष्टवाली, पूर्णिमा के चन्द्र सदृश कान्तिमान मुखवाली और भ्रमरश्रेणि के सदृश श्याम वर्ण के केशवाली थी।

इस प्रकार उस मनोहर एवं रूपवती गोपपुत्री को देख श्रेणिक राजा उस पर अत्यन्त मोहित होकर कामातुर हो गया और अभयकुमार से गुप्त रह कर राजा ने उसके वस्त्र के छोर पर अपनी मुद्रिका बांध दी। कुछ समय पश्चात् राजा ने अपने हाथ की ओर दृष्टि फैंक कर अभयकुमार से कहा कि-मेरी मुद्रिका यहां खो गई है इसलिये जिसने वह उठाई हो उस चोर की खोज कर उसको मेरे पास लाओ यह सुनकर अभयकुमार ने अपने पिता का वचन स्वीकार कर उद्यान के सर्व दरवाजे बन्द करा कर केवल एक ही दरवाजे से सर्व मनुष्यों को एक एक कर

रहते थे। कुछ समय के बाद किसी पापकर्म के उदय से जब वे निर्धन हो गये तो दोनों ने परस्पर विचार किया कि-हम द्रव्य रहित हो गये हैं इसलिये धनोपार्जन करने के लिये परदेश में जाना चाहिये। ऐसा विचार कर उन्होंने शुभ दिवस को प्रयाण किया। मार्ग में जाते हुए उन्होंने एक श्रावक के साथ पांच साधुओं को जाते हुए देखा। उनको उत्तम साथ जान कर वे भी उनके साथ हो गये। कुछ दिन तक उनके साथ रहने से उनकी चेष्टा तथा वाणी से उन साधुओं को कुशीलवान जान कर नागिल ने सुमति से कहा कि-"हमारा इन साधुओं के साथ रहना अनुचित है। क्योंकि मैंने श्री नेमिनाथ के मुंह से एक बार ऐसा सुना था कि "एवंविहे अणगाररूवे भवन्ति ते कुसीले, ते दिट्ठिए वि निरक्खिओ न कप्पंति-" इस प्रकार के साधु वेषधारी होते हैं, उनको कुशील समझना चाहिये, उनको देखना भी पाप है। अतः हे भाई! हमें इन कुदृष्टि (मिथ्यादृष्टि) को छोड़ कर आगे चलना चाहिये।" यह सुनकर सुमति ने कहा कि-"हे नागिल! तू वक्रदृष्टि से दोष देखनेवाला जान पड़ता है, मुझेतो इन साधुओं के साथ बातें करना तथा गमन आदि करना योग्य प्रतीत होता है।" नागिल ने उत्तर दिया कि हे भाई! मैं तो मन से भी साधु के दोष को ग्रहण नहीं करता परन्तु मैंने भगवान् तीर्थंकर के पास कुशील साधु को नहीं देखने का निश्चय किया है।" सुमति ने कहा कि-"जैसा तू बुद्धिहीन है वैसा ही वह तीर्थंकर भी होगा कि जिसने तुझे

ांस आदि लेकर आते हैं। उनको दूर से आते हुए देख कर वे
ग्रंडगोलिये उनको मारने के लिये दौड़ते हैं, इसलिये वे व्यापारी
कदम कदम पर उनके खाने के लिये मद्य, मांसादिक से भरे
हुए पात्र रखते हुए भागते जाते हैं। वे अंडगोलिये भी उनके
पीछे पीछे मार्ग में पड़े हुए मद्य, मांस के पात्रों में से मांसादिक
खाते खाते दौड़ते हैं। अन्त में वज्रशिला के संपुटों के समीप
आकर उनमें रक्खे हुए मद्य, मांसादिक को खाने के लिये
उनके अन्दर प्रवेश करते हैं और वे व्योपारी अपने अ
स्थान को चले जाते हैं। उनके अन्दर मद्य, मांस खाते हुए
पांच, छ, सात, आठ या दस दिन तक व्यतीत करते हैं इस बीच
में वे व्योपारी वखतर पहिन कर, खड्ग, भाला आदि शस्त्र
धारण कर उस वज्रशिला के संपुटों के पास आकर सात आठ
मंडल के संपुटों को घेर लेते हैं और बाद में उन्होंने जिन
संपुटों को प्रथम उघाड़ा था उसको ढ़क देते हैं। उनमें से कदा-
चित् एक भी अंडगोलिया निकल जाय तो वह इतना बलवान
होता है कि उन सबको मार डाले। फिर वे व्योपारी यंत्र द्वारा
वज्र की चक्की में उनको पीसते हैं परन्तु वे अत्यन्त बलवान
होने से एक वर्ष में महावेदना पाकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।
उनको पीसने पर उनके शरीर के अवयव चूर्ण के समान बाहर
निकलते जाते हैं। उनमें से वे व्योपारी उनके अंड की गोलियें
खोज लेते हैं। फिर उन गोलियों का उपरोक्तानुसार उपयोग कर
वे समुद्र में से रत्न ग्रहण करते हैं। गौतम! उस सुमति का जीव

परमाधार्मिक के भव से च्यव कर वह अंडगोलिक मनुष्य होगा। इस प्रकार सात भव करके अनुक्रम से व्यन्तर, वृत्त, पक्षी, स्त्री, छट्ठी नरक में नारकी और कुष्टी मनुष्य ऐसे भवों में अनन्त काल तक परिभ्रमण कर अन्त में कर्मों का क्षय कर चक्रवर्ती पद प्राप्त कर प्रव्रज्या ग्रहण कर मोक्ष को प्राप्त करेगा। उस नागिल ने तो उसी भव में बाईसवें तीर्थंकर के पास दीक्षा ग्रहण कर मुक्ति-पद प्राप्त किया है। (यह प्रबन्ध महानिशीथ के चौथे अध्ययन में विस्तारपूर्वक वर्णित है)।

इस सुमति के वृत्तान्त को पढ़ कर भव्य प्राणियों को कुशील की प्रशंसा का निरन्तर त्याग करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से ही वह दुर्गति को प्राप्त हुआ है और शुद्ध समकित से सुशोभित नागिल ने उसी भव में उत्तम संगति से मोक्ष पद को प्राप्त किया है।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ द्वितीयस्थंभे
द्वाविंशतितमं व्याख्यानम् ॥ २२ ॥

★

व्याख्यान २३ वां

पांचवे मिथ्यादृष्टिसंस्तव नामक दूषण के विषय में।

मिथ्यात्विभिः सहालापो, गोष्ठी परिचयस्तथा।
दोषोऽयं संस्तवो नाम, सम्यक्त्वं दूषयत्यसौ ॥१॥

भावार्थः—मिथ्यात्वियों के साथ बातचीत, गोष्ठी तथा परिचय करना संस्तव नामक दोष कहलाता है। यह दोष समकित को दूषित करने वाला है।

मिथ्यात्वियों के साथ परिचय करने से समकित को दोष लगता है। उनकी क्रियाओं को सुनने से तथा देखने से स्याद्वाद मत को नहीं जाननेवाले मंद बुद्धिवाले पुरुष का समकित से भ्रष्ट होना सम्भव है परन्तु स्याद्वाद के सम्पूर्ण स्वरूप के ज्ञाता को यह दोष नहीं लगता क्योंकि कोई समकितवान् मिथ्यात्वियों से परिचय होने पर भी गुण को ही ग्रहण करता है और अपने समकित को विशेषतया स्फुटतर-अति निर्मल करता है। इस पर धनपाल कवि का दृष्टान्त प्रसिद्ध है:—

धनपाल कवि का दृष्टान्त

धारानगरी में लक्ष्मीधर नामक एक ब्राह्मण था जिस के धनपाल और शोभन नामक दो पुत्र थे। उस ब्राह्मण के घर में किसी एक स्थान पर धन गड़ा हुआ था। उसकी आवश्यकता होने से उसकी कई स्थान पर खोज की गई किन्तु नहीं मिला। समस्त घर को चारों तरफ खोद डाला लेकिन वह धन कहीं भी न मिला इससे लक्ष्मीधर अत्यन्त चिन्तातुर हो गया। एक बार स्वपरशास्त्र

ारंगत श्री जिनेश्वर सूरि का धारानगरी में पधारना हुआ।
ीधर ने उनसे धन के विषय में प्रश्न किया। इस पर सूरिने
दिया कि–यदि तू अपने दो पुत्रों में से एक हम को दे देवे
ुझे धन बतला दूं। उसने सूरि के वचन को स्वीकार कर
। इस लिये आचार्य महाराजने अहिवलय चक्र के अनुसार
ेख कर कहा कि–अमुक स्थान पर धन है। उस जगह पर
ने से लक्ष्मीधर को धन की प्राप्ति हुई परन्तु उसने
ने वचनानुसार पुत्र को नहीं दिया। कुछ समय पश्चात्
उसका मृत्युकाल समीप आया तो सूरि के साथ की हुई
नी प्रतिज्ञा का स्मरण होने से खेदित होकर दोनों पुत्रों
ास प्रतिज्ञा का हाल सुनाया। यह सुन कर छोटे पुत्र शोभनने
कि–हे पिता! मैं आपको ऋणमुक्त करुंगा। इस पर लक्ष्मी-
ने संतुष्ट होकर शरीर छोड़ा और शोभनने बिना अपने स्वजनों
ूछे ही गुरु के समीप जाकर दीक्षा ग्रहण की।

धारानगरी में धनपाल का बहुमान होने से गुरुने उससे
भीत हो कर मालव देश में विहार करना छोड़ दिया और
य साधुओं को वहां जाने का निषेध किया। गुरु के संसर्ग से
ान मुनि भी बड़े विद्वान हो गये। एक बार शोभन मुनि
ारी के लिये गये तो उनका चित्त श्री जिनेश्वर की स्तुति रचने
व्यग्र होने से किसी श्रावक के घर से आहार ले कर
हुए (पात्र झोली में रखने के बदले पास में रखे हुए पाषाण

ने का स्मरण हो आने से उसने मुनि को पहोरने के लिये
ाया। उसी दिन धनपाल को मारने के लिये उसके शत्रु ने
उके भोजन मोदक में विष मिला दिया था। धनपाल वे
दक मुनि को पहराने लगा। यह देख कर मुनि ने कहा कि-ये
दक हमारे लिये अकल्पनीय हैं। धनपाल ने कहा-क्यों?
ा ये विषमिश्रित हैं? मुनि ने कहा कि-हां, इनमें विष मिला
ा है। यह सुनकर धनपाल ने पता चलाया तो सचमुच उनमें
सी शत्रु का विष मिला देना पाया गया। इससे आश्चर्यचकित
र अपने बचानेवाले मुनि को उसने पूछा कि-हे मुनि! इन
क का विषमिश्रित होने का पता तुम्हें किस प्रकार चला?
ने ने उत्तर दिया कि-हे धनपाल!

दृष्ट्वान्नं सविषं चकोरविहगो धत्ते विरागं दृशो-
ः कूजति सारिका च वमति क्रोशत्यजस्रं शुकः।
ष्टां मुञ्चति मर्कटः परभृतः प्राप्नोति मृत्युं क्षणात्
औ माद्यति हर्षवांश्च नकुलः प्रीतिं च धत्ते द्विकः॥

भावार्थः—विषयुक्त भोजन देख कर चकोर पक्षी नेत्र में
ाग धारण करता है (नेत्र बन्द करता है), हंस शब्द करते
सारिका वमन करती है, पोपट वारम्वार आक्रोश करता है,
र विष्टा करता है, कोयल क्षणभर में मृत्यु प्राप्त करती है,

वैरिणोऽपि हि मुच्यन्ते, प्राणान्ते तृणभक्षणात् ।
तृणाहाराः सदैवैते, हन्यन्ते पशवः कथम् ॥ १ ॥

भावार्थः- प्राणनाश के उपस्थित होने पर यदि शत्रु भी तृण का भक्षण करे-मुंह में तृण ले ले तो उसको शत्रु होने पर भी क्षमा कर देते हैं तो फिर इन निरपराधी पशुओं को जो निरन्तर तृण का ही आहार करते हैं किस प्रकार मारा जाता है ?

यह सुन कर राजा के हृदय में दया का संचार हुआ और उसने अपने धनुष तथा बाण को तोड़ कर आगे के लिये शिकार नहीं खेलने की प्रतिज्ञा की। वन से लौट कर नगर की ओर जाते हुए राजा का बनाया हुआ सरोवर मार्ग में आया जिसको देख कर राजा के कहने से एक कविने सरोवर का वर्णन किया कि—

हंसैर्युक्तः प्रशस्तैस्तरलितकमलैः प्राप्तरंगैस्तरंगैः—
नीरैरन्तर्गभीरैश्चटुलबककुलग्रासलीनैश्च मीनैः ।
पालीरूढद्रुमालीतलसुतशयितस्त्रीप्रणीतैश्च गीतै—
र्भाति प्रक्रीडनाभिः क्षितिप ! तव चलच्चक्रवाकस्तटाकः ॥

भावार्थ—प्रशस्त हंसोंद्वारा, चपल कमलोंद्वारा, रंग को प्राप्त हुए तरंगोंद्वारा, गंभीर जलद्वारा, चंचल बगुले के समूह के कवलरूप मत्स्यों द्वारा, पाल पर खड़े वृक्षों पर झूला डाल कर बालकों को झुलाते समय गाये जाने वाले स्त्रियों के मनोहर गान

भावार्थ—सत्यरूपी यज्ञस्तंभ खड़ा कर, तपरूपी अग्नि जला कर, उसमें कर्मरूपी समिध (लकड़ी) डालकर अहिंसारूपी आहुति देना यह सच्चा यज्ञ होता ऐसा सत्पुरुषोंद्वारा माना गया है।

स्वर्गः कर्तृक्रियाद्रव्यविनाशे यदि यज्विनाम् ।
तदा दावाग्निदग्धानां, फलं स्याद् भूरि भूरुहाम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि कदाचित् यज्ञकर्ता की क्रिया और द्रव्य के विनाश से यज्ञाचार्य को स्वर्गप्राप्ति हो सकती हो तो दावानल में जले हुए वृक्ष को बहुत फल मिलना चाहिये।

निहतस्य पशोर्यज्ञे, स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन, किं तु तस्मान्न हन्यते ? ॥ ५ ॥

भावार्थ—यदि इस इच्छा से पशु मारे जाते हों कि यज्ञ के लिये मारे हुए पशुओं को स्वर्गप्राप्ति होती है तो यज्ञ में यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता ?

इस प्रकार यज्ञ की निन्दा सुनकर राजा ने धनपाल की ओर देख कर उसके समस्त कुटुम्ब के निग्रह करने का विचार किया। धनपाल ने इस अभिप्राय को जानते हुए भी अपने सत्य बोलने के नियम को नहीं छोड़ा।

आगे बढ़ने पर राजा किसी शिवालय में गया, जहां पर धनपाल के अतिरिक्त सबों ने महादेव को नमस्कार किया। इस

[illegible] राजा ने [illegible] को नमस्कार क्यों नहीं करता ? [illegible] निवेदन किया कि

जिनेन्द्रचन्द्रप्रणिपातलालसं,
मया शिरोऽन्यस्य न नाम नाम्यते ।
गजेन्द्रगण्डस्थलदानलालसं,
शुनीमुखे नालिकुलं निलीयते ॥ १ ॥

भावार्थ;—हे राजा ! जिनेन्द्ररूपी चन्द्र को नमस्कार करने के लालायित अपने सिर को मैं अन्य किसी के सामने नहीं झुकाता, क्योंकि मदोन्मत्त हस्ती के गंडस्थल में से झरते हुए मद का लालायित भ्रमरसमूह कभी भी कुत्ते के मुँह में से निकलती हुई लार पर लीन नहीं होता।

यह सुनकर राजा उस पर विशेष क्रोधित हुआ। आगे बढ़ने पर पुरद्वार के समीप राजा ने एक सम्पूर्ण शरीर से कम्पायमान वृद्ध स्त्री को एक बालिका के हस्त का अवलम्बन कर सन्मुख आते देख कर पंडितों से प्रश्न किया कि यह वृद्धा हाथ और पैर क्यों कंपाती है ? इस पर एक पंडित ने उत्तर दिया कि-

कर कंपावइ सीर धुणे, बुड्ढी काहु कहेई।
हंकारंता यमभडां, नंनंकार करेई ॥ १ ॥

भावार्थः—हे राजा! आपका जो यह प्रश्न है कि यह वृद्धा हाथ और सिर कंपाती है इसका क्या कारण है? इसका यह उत्तर है कि—वह उसको पुकारने वाले यमदूतों से कह रही है कि नहीं, नहीं, मैं नहीं आती हूँ। उसी समय किसी अन्य पडित ने कहा कि—

ज़रायष्टिप्रहारेण, कुब्जीभूता हि वामना।
गततारुण्यमाणिक्यं, निरीक्षते पदे पदे ॥ १ ॥

भावार्थः—वृद्धावस्थारूपी लकड़ी के प्रहार से झुकी हुई यह वामन स्त्री पग पग पर अपने खोयें हुए युवावस्थारूपी माणिक्य की खोज कर रही है।

यह सुनकर राजा ने धनपाल से कहा कि-हे वक्रमति धनपाल! यह वृद्धा स्त्री इस बालिका से क्या पूछती है? इस पर राजा के क्रोध को शान्त करने के लिये धनपाल ने उत्तर दिया कि हे स्वामी! इस बालिका को यह वृद्धा उसके प्रश्नों का उत्तर दे रही है।

किं नन्दी किं मुरारिः किमु रतिरमणः किं नलः किं कुबेरः?
किं वा विद्याधरोऽसौ किमुत सुरपतिः किं विधुः किं विधाता?

[illegible] ॥ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ १ ॥

भावार्थः—[illegible] को [illegible] पूछती है कि—हे माता! क्या यह महादेव है? क्या विष्णु है? क्या कामदेव है? क्या राजा नल है? क्या कुबेर है? क्या विद्याधर है? क्या इन्द्र है? क्या चन्द्र है? या क्या ब्रह्मा है? पुत्री उत्तर देती है कि यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं, ना, ना, ना, ना इन में से तो यह कोई नहीं है (क्यों कि ये तो सब कलंकी हैं) परन्तु यह तो क्रीड़ा करने को प्रवृत्त हुआ भूपति भोज देव है।

---

१ नन्दी शब्द से नन्दराजा है? नहीं वह तो महा लोभी था यह तो उदारहृदय है। मुरारी या कृष्ण है? नहीं वह तो काला था यह तो उज्ज्वल है। रति का स्वामी कामदेव है? नहीं वह तो अंग रहित है जब कि यह तो शुभ देहवाला है। नल राजा है? नहीं वह तो जुआरी था यह तो व्यसन रहित है। कुबेर है? नहीं वह तो पराधीन है यह तो स्वाधीन है। विद्याधर है? नहीं वह तो आकाश में भ्रमण करता है, यह तो जमीन पर विचरण करता है। सुरपति या इन्द्र है? नहीं वह तो श्रापित है, यह तो श्राप रहित है। विधु या चन्द्र है? नहीं वह तो कलंकी है, यह निष्कलंक है। ब्रह्मा है? नहीं वह तो वृद्धा है जब कि यह तो युवा है।

यह काव्य सुनकर भोज राजा बहुत प्रसन्न हुआ और धन पाल से कहा कि हे पण्डित ! मैं इस से बहुत प्रसन्न हुआ हूँ इस लिये वरदान मांग। यह सुन कर धनपाल ने कहा कि–हे स्वामी! यदि आप प्रसन्न हुए हैं तो मेरी ली हुई वस्तु मुझे वापस लौटाइये। राजा ने कहा कि–मैंने तो तेरा कुछ भी नहीं लिया। धनपाल ने कहा कि हे नाथ ! आप शिकार में हरिणी वध किया तब मेरा काव्य सुनकर क्रोधित हो मेरी एक आंख निकाल लेनें का आपने विचार किया था और सरोवर के वर्णन के समय दूसरी आंख भी निकाल लेने का निश्चय किया था। इसके पश्चात् भी सर्व कुटुम्ब का निग्रह करने का विचार किया था। अतः भाव से ग्रहण किये मेरे दोनों नेत्र मुझे वापस दीजिये। यह सुनकर राजा ने प्रसन्न हो धनपाल को क्रोड़ द्रव्य दिया और कहा कि तू श्रावक होने से सर्वज्ञपुत्र हुआ यह न्याययुक्त है।

एक बार धनपाल का चित्त व्यग्र देख कर भोजराज ने इसका कारण पूछा। इस पर उसने उत्तर दिया कि-मैं अभी युगादीश का चरित्र बना रहा हूँ इसलिये मन में व्यग्रता रहती है। फिर उस चरित्र के पूर्ण होने पर राजा ने उसको सुनना आरम्भ किया। उसका अद्भुत रस सुनकर राजा ने विचारा कि–इसका अर्थरूपी रस भूमि पर न पड़ जाय इसलिये पुस्तक के नीचे एक बड़ा स्वर्णथाल रखा दिया। इस प्रकार उस चरित्र के रसपान करते हुए राजा को कई रात दिन व्यतीत हो गये।

भावार्थ—जो मुनि जिनप्ररूपित आगम की समयानुसार प्ररूपणा कर सकते हैं तथा तीर्थ को शुभ मार्गानुगामी बना सकते हैं, उनको प्रवचनप्रभावक कहते हैं।

काल अर्थात् सुखमादुखमादिक[1] समय के विषय में यथायोग्य जिनप्रणीत सिद्धान्त को गौतमादिक के सदृश जो सूरि जानते हों तथा तीर्थ अर्थात् चतुर्विध संघ को शुभ मार्ग में (धर्ममार्ग में) प्रवृत्त कर सकते हों उनको प्रवचनभावक समझना चाहिये। इसका भावार्थ निम्न लिखित वज्रस्वामी के चरित्र से जाना जा सकता है।

वज्रस्वामी का दृष्टान्त

यः पालनस्थः श्रुतमध्यगीष्ट,
षाण्मासिको यश्चरिताभिलाषी।
त्रिवार्षिकः संघममानयद्यः,
श्रीवज्रनेता न कथं नमस्यः ॥ १ ॥

भावार्थ:—जिसने झूले में सोते सोते श्रुत का अभ्यास किया, जो छ महीने की आयु में ही चारित्र ग्रहण करने का अभिलाषी हुआ और जिसने तीन वर्ष की आयु में ही संघ को मान दिया, उस वज्रस्वामी को क्यों न नमस्कार किया जाय?

---

१ चोथा आरा आदि।

तेबोध करें वे ही सूरि धर्मकथा कहने योग्य होते हैं, परन्तु
सूरि घड़े में स्थित दीपक के सदृश मात्र खुद को ही प्रकाश
रते हैं वे धर्मकथक नहीं कहला सकते। इस प्रसंग पर सर्वज्ञ
रिका दृष्टान्त प्रशंसनीय है—

सर्वज्ञ सूरि का दृष्टान्त

श्रीपुर में श्रीपति नामक एक श्रेष्ठी रहता था वह समकित
धारण करनेवाला था। उसके कमल नामक एक पुत्र था। वह
र्म से पराङ्मुख और सातों व्यसनों में तत्पर था। वह देव
रु का दर्शन भी नहीं करता था। उसको एक वार उसके पिता
उपदेश दिया कि—

हत्तरीकलापंडियां वि पुरिसा अपंडिया चेव ।
व्वकलाण वि पवरं जे धम्मकलं न याणंति ॥ १ ॥

भावार्थः—जो पुरुष सर्व कलाओं में प्रधान धर्म कला को
हीं जानते वे बहत्तर कलाओं के पंडित होते हुए भी अपंडित
मूर्ख) ही हैं।

यह सुनकर कमल ने कहा कि—हे पिता! जीव कहां है?
र्ग कहां है और मोक्ष भी कहां है? ये सब आकाश को
लिंगन करने और घोड़े के सींग के सदृश केवल असत्य ही
। तप, संयम आदि क्रियाओं की तुम प्रशंसा करते हो परन्तु
तो केवल अज्ञानी मनुष्यों को डराने के लिये ही कही गई हैं,
आदि कह कर कमल ग्राम में घूमने को चल पड़ा।

अंगुष्ठे पदगुल्फजानुजघने नाभौ च वक्षस्तले,
कक्षाकंठकपोलदंतवसने नेत्रेऽलके मूर्धन ।
शुक्लाशुक्लविभागतो मृगदृशामंगेष्वनंगास्डिति-
मूर्ध्वाधोगमनेन वामपदगाः पक्षद्वये लक्षयेत् ॥ १ ॥

भावार्थः—पैर का अंगूठा, फण, घुन्टी जानु जंघा, नाभि, वक्षस्थल (स्तन), कक्षा (कांख), कंठ, गाल, दांत, ओष्ठ, नेत्र, कपाल और मस्तक इन पन्द्रह अंगों में स्त्रियों के सनुक्रम से पन्द्रह तिथियों में काम रहता है। इनमें से शुक्ल पक्ष की एकम को पैर के अंगूठे में काम रहता है, जहां से चढ़ता हुआ पूर्णमासी को मस्तक तक पहुंचता है और कृष्ण पक्ष की एकम को मस्तक में रहता है जहां से उतरता हुआ अमावास्या को अंगूठे पर आजाता है।

इस प्रकार जान कर यदि स्त्री के कामवाले स्थान को मर्दन किया जाय तो वह स्त्री तत्काल वश में हो जाती है। वश में होने वाली स्त्री के लक्षण इस प्रकार जाने जा सकते हैं। वश में होने की इच्छावाली स्त्री नेत्रों को नमाती है, पुरुष के हृदय पर पड़ती है, तथा भृकुटी को वक्र करती हुई शोभा उत्पन्न करती है और संयोग होने से लज्जा का त्याग करती है। इस प्रकार बातों में रस आने से कमल सदैव सूरि के पास आने लगा और किसी वक्त शृङ्गार का, किसी वक्त इन्द्रजाल का और

नियम से भी उसको भावी लाभ होता जानकर उसको उसका नियम कराया। फिर उसको बराबर पालन करने के लिये उसको कह कर गुरु ने विहार किया। कमल भी लोकलज्जा के भय से किये हुए नियम का पालन करने लगा।

एक बार कमल राजद्वारे गया तो वहां कामवश अधिक ठहरने से मध्याह्न हो गया और भोजन करने में देरी हो गई। घर आकर जब भोजन करने बैठा तो उसको माता ने उसको अपने नियम का स्मरण दिलाया। उसने उस दिन कुम्हार की टटरी नहीं देखी थी इसलिये वह बिना भोजन किये ही कुम्हार के घर गया लेकिन कुम्हार उस समय वहां न होकर ग्राम के बाहर मिट्टी लेने के लिये गया हुआ था। कमलभी ग्राम के बाहर गया और दूर खड़ा रह कर एक खड्डे में से मिट्टी खोदते हुए कुम्हार के सिर की टटरी देखकर 'देखलिया देखलिया', ऐसा कहकर कमल दौड़ता हुआ वापिस घर की ओर चला गया। उस समय कुम्हार को मिट्टी खोदते हुए स्वर्णमुद्रा का निधि प्राप्त हुआ था इसलिये कमल को 'देखलिया, देखलिया' ऐसे शब्द सुनकर उसे शंका हुई कि यह इस निधि को देख गया है इसलिये अगर वह इसका हाल राजा से जाकर कहदेगा तो राजा मेरा सब धन छीन लेगा इसलिये उसने कमल को चिल्लाकर कहा कि हे भैया कमल! इधर आ, यह सब तू ही लेजा परन्तु किसी को इसका हाल न कहना। इससे कमल को कुछ शंका होने से जब उसके समीप

तद्वैतं पारमार्षः सहितमुपमया
तत्त्रयं चाक्षपादः ।
अर्थापत्त्या प्रभाकृद्वदति तदखिलं
मन्यते भट्ट एतत्,
साभाव्ये द्वे प्रमाणे जिनपतिगदिते
स्पष्टतोऽस्पष्टतश्च ॥ १ ॥

भावार्थः—चार्वाक (नास्तिक) केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण को ही मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाण को मानते हैं। परन्तु आर्ष अक्षपाद (न्याय) मतानुयायी प्रत्यक्ष अनुमान शब्द और उपमा इन चार प्रमाणों को मानते हैं। प्रभाकर मतानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमा और अर्थापत्ति इन पांच प्रमाणों को मानते हैं, भट्ट मतानुयायी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमा, अर्थापत्ति और जैन मतानुयायी तो स्पष्ट तथा अस्पष्ट इन दो प्रमाणों को ही मानते हैं (स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और अस्पष्ट अर्थात् परोक्ष-अन्य सर्व प्रमाण इनके अन्तर्गत होते हैं)।

ये प्रमाण जिन ग्रन्थों में वर्णित हैं, उन ग्रन्थों के आधार से जो परवादी पर विजय प्राप्त करते हैं उनको वादी प्रभावक कहते हैं. इसका भावार्थ मल्लवादीसूरि के चरित्र से प्रत्यक्ष है।

खेटक (खेड़ा) पुर में देवादित्य नामक ब्राह्मण के एक
धवा पुत्री थी, उसने किसी गुरु से सूर्य का मंत्र लेकर उसका
राधन किया, इस से सूर्य ने उस पर मोहित हो उसके साथ
ग किया। इसकी उस दिव्य शक्ति से वह गर्भवति हुई। गर्भ
बात सुनकर उसके पिता ने उसको बहुत कुछ बुरा भला कहा
स पर उसने सर्व वृत्तान्त यथाविधि कह सुनाया। यह सुनकर
के पिता ने लज्जा से अपनी पुत्री को वल्लभीपुर भेज दिया,
हां उसके एक पुत्र व एक पुत्री युग्मरुप से उत्पन्न हुए। उनके
ग्य वय के होने पर पुत्र लेखशाला में पढ़ने के लिये गया तो
हां अन्य लड़के उसको 'बिना बाप का' कह कर हँसी उड़ाने
गे। इस से उसने उसकी माता को पूछा कि-मेरा पिता कौन
? इस पर उसकी माता ने उत्तर दिया कि-मैं नहीं जानती।
ह सुनकर पुत्र अत्यन्त लज्जित होकर मरने को उतारु हुआ।
स समय सूर्य ने साक्षात् प्रकट होकर कहा कि-हे वत्स! मैं
रा पिता हूँ। जो कोई तेरा पराभव करें तो तू उसको कंकर से
रना। वह कंकर उसको मार कर तेरे पास आजायगा। इसके
श्चात उस पुत्र ने कई बालकों तथा अन्य मनुष्यों को मार
ला। इस पर वल्लभीपुर के राजा ने जब उसको बुरा भला कहा
। उसने उसको भी मार डाला और स्वयं शिलादित्य नाम से
जा बन बैठा। अनुक्रम से उसने जैन धर्म को अंगीकार किया
और शत्रुंजयगिरि पर उद्धार किया।

में दिगंबर के मतखण्डन के विषय में बतलाये चौराशी विकल्पों का विस्तार करने से दिगंबराचार्य का मुंह बन्द हो जायगा। ऐसा कह कर देवी अदृश्य हो गई। सूरिने अपने रत्नप्रभा नामक मुख्य शिष्य को दिगंबराचार्य के पास गुप्तरूप से यह जानने के लिये भेजा कि—उनकी कौन से शास्त्र में कुशलता है। वह रात्री के समय गुप्त वेष में देव के समान उनके पास गया। कुमुदचंद्र ने उससे पूछा कि-तू कौन है? उसने उत्तर दिया कि—मैं देव हूँ। कुमुदचंद्र ने पूछा कि मैं कौन हूँ? उसने उत्तर दिया कि तूं श्वान है। कुमुदचंद्र ने पूछा कि—श्वान कौन है? उसने कहा कि—तू। कुमुदचंद्र ने पूछा कि तूं कौन है। उसने उत्तर दिया कि—मैं देव हूँ। इस प्रकार चक्रभ्रमण× वाद द्वारा अपने को देव और उसको श्वान स्थापित कर वह वापस अपने आश्रय को लौट गया। इस प्रकार चक्रदोष प्रगट करने से मोहित दिगंबराचार्य ने, यह जान कर कि श्वेताम्बर के किसी साधु ने आकर मेरी निन्दा की है, देवसूरि को एक श्लोक लिख कर भेजा कि—

दंशो श्वेतपटाः किमेष विकटाटोपोक्तिसंटंकितैः,
संसारावटकोटरे निपतितं युष्मो जनः पात्यते।

[illegible]

तत्त्वातत्त्वविचारणासु यदि वा हेवाकलेशस्तदा,
सत्यं कौमुदचन्द्रमंघ्रियुगलं रात्रिन्दिवं ध्यायत ॥ १ ॥

भावार्थः—अरे श्वेताम्बरो! खोटे आडम्बरवाले वाक्यों के प्रपंचद्वारा तुम इन मुग्ध लोगों को अति विकट संसाररूपी अन्धकूप के कोटर में क्यों डालते हो? यदि तुम्हारी तत्त्व और अतत्त्व के विचार में लेश मात्र भी इच्छा हो तो तुम सचमुच रात्रिदिन कुमुदचन्द्र के चरणयुग्म का ध्यान धारण करो।

दिगम्बराचार्य द्वारा भेजे हुए इस श्लोक को पढ़कर बुद्धि-वैभव में चाणक्य से भी बढ़कर देवसूरि के शिष्य माणिक्य मुनि ने निम्नस्थ श्लोक लिखा—

कः कंठीरवकंठकेसरसटाभारं स्पृशत्यंघ्रिणा,
कः कुन्तेन शितेन नेत्रकुहरे कण्डूयनं कांक्षति।
कः सन्नह्यति पन्नगेश्वरशिरोरत्नावतंसश्रिये,
यः श्वेताम्बरशासनस्य कुरुते वन्द्यस्य निन्दामिमाम् ॥१॥

भावार्थः—ऐसा कौन पुरुष होगा कि—जो सिंह के गर्दन की केशवाली को पैरों से स्पर्श करेगा? ऐसा कौन पुरुष होगा कि—जो तीक्ष्ण भाले से नेत्र के गोलक की खाज को मिटाने की इच्छा करेगा और ऐसा कौन पुरुष होगा कि—जो शेषनाग के मस्तक की मणि को लेकर अलंकार बनाने को तैयार होगा? ऐसा पुरुष वह

ही हो सकता है कि-जो श्वेताम्बर के पूज्य शासन की इस प्रकार निन्दा करता हो।

फिर रत्नाकर नामक साधुने भी एक श्लोक लिखा कि-

नग्नैर्निरुद्धा युवतीजनस्य,
यन्मुक्तिरत्नं प्रकटं हि तत्त्वम् ।
तत्किं वृथा कर्कशतर्ककेलौ,
तवाभिलापोऽयमनर्थमूलम् ॥ २ ॥

भावार्थ – अहो नग्न लोगों ने स्त्रियों का मुक्तिरूपी रत्न बंध कर के ही अपना जो तत्व प्रगट किया है वह ही काफी है, अब तू क्यों कठिन शास्त्र की क्रीड़ा में व्यर्थ अभिलाषा करता है? क्यों कि-ऐसी अभिलाषा तेरे अनर्थ का ही कारण होगी इसे तू भलीभांति समझ लेना।

इन दोनों श्लोकों को उन्होंने उपहासपूर्वक दिगम्बराचार्य के पास भेज दिये।

राजा की रानी दिगम्बर के पक्ष में थी इसलिये उसने सभ्यजनों को आग्रहपूर्वक ऐसा कह रक्खा था कि-तुम ऐसा कार्य करना कि-जिस से किसी भी प्रकार से दिगम्बर की जय हो। फिर कुमुदचन्द्र ने अपने वाद का विषय लिख कर इस प्रकार भेजा कि—

केवलि हुओ न भुञ्जइ,
चीवरसहिअस्स नत्थि निव्वाणं ।
इत्थी हुवा न सिज्झई,
इयमयं कुमुदचन्दस्स ॥ १ ॥

भावार्थ—तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात आहार नहीं करते, वस्त्र धारण करनेवाले का मोक्ष नहीं होता और स्त्री कोई सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकती यह कुमुदचन्द्र दिगम्बर का मत है ।

इस श्लोक के जवाब में श्वेताम्बरों ने उत्तर दिया कि—

केवलि हुओ वि भुञ्जइ,
चीवरसहिअस्स अत्थि निव्वाणं ।
इत्थी हुवा वि सिज्झई,
इयमयं सियवयस्स× ॥ १ ॥

भावार्थ—तीर्थंकर केवली होने पर भी आहार करते हैं । वस्त्र धारण करनेवाले का मोक्ष होता है और स्त्री भी सिद्धि को प्राप्त कर सकती है ऐसा श्वेताम्बर मत है अथवा देवसूरि का यह मत है ।

× 'इस चौथे पद के स्थान में मयमेयं देवसूरिणं' ऐसा पद भी किसी प्रत में है ।

नहीं बांधी है और वस्त्र पहनना भी नहीं सीखा है तो
लक तू है या मैं हूँ ?" इस प्रकार उन दोनों में होनेवाले
ाद का राजा ने निषेध किया। फिर दोनों पक्ष के बीच यह
री कि-यदि श्वेताम्बर की पराजय हो तो उनको दिगम्बर-
गीकार करना होगा और दिगम्बर की पराजय हो तो
देश का त्याग करना होगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा होने
ःशकलंकभीरु श्री देवसूरि सर्व प्रकार के अनुवाद का
कराने में तत्पर होकर कुमुदचन्द्र को कहा कि-"तुम
क्ष करो" इस पर दिगम्बर ने प्रथम राजा को आशीर्वाद
के—

द्यु तिमातनोति सविता जीर्णोर्णनाभालय-
माश्रयते शशी मशकतामायान्ति यत्राद्रयः।
वर्णयतो नभस्तव यशोजातं स्मृतेर्गोचरं,
मन् भ्रमरायते नरपते! वाचस्ततो मुद्रिता ॥ १ ॥

भावार्थ—हे राजा! तुम्हारे यश के सामने सूर्य खद्योत
गये) के समान, चन्द्र जीर्ण करोड़िया के पेड़ के समान
र्गत मच्छर के समान प्रतीत होता है। अन्त में तुम्हारे
ा वर्णन करते हुए आकाश मेरे स्मरणपथ में आया परन्तु
ाकाश भी तुम्हारे यश के सामने एक भ्रमर सदृश छोटा
न पड़ता है, अतः तुम्हारे यश के वर्णन के लिये कोई भी
नजर नहीं आने से मेरी जिह्वा ही मूक रह जाती है।

नको मन से ही नमस्कार किया। सूरिने उनको उच्च स्वर से र्मलाभ दिया। इस पर राजा ने उन से पूछा कि–हे सूरीन्द्र! ने नमस्कार तो किया भी नहीं था फिर आपने मुझे धर्मलाभ यों कर दिया? सूरिने उत्तर दिया कि–हे राजा! यह धर्मलाभ-प आशीर्वाद करोड़ों चिन्तामणि से भी अधिक दुर्लभ है जो मने तुमको मन से नमस्कार करने के बदले में दिया है। यों कि–

×दर्घायुर्भव वर्ण्यते यदि पुनस्तन्नारकाणामपि,
सन्तानाय च पुत्रवान् यदि पुनस्तत्कुकुटानामपि।
तस्मात्सर्वसुखप्रदोऽस्तु भवतां श्रीधर्मलाभःश्रिये।

भावार्थः– हे राजा! तू दीर्घ आयुष्यवान हो, ऐसा यदि आशीर्वाद दिया तो दीर्घ आयुष्य तो नारकीय जीवों को भी हो सकता है, सन्तान के लिये पुत्रवान् हो यदि ऐसा आशीर्वाद दिया जाय तो मुर्गे मुर्गियों के भी अनेक बच्चे होते हैं, × × × × अतः सर्व प्रकार के सुखों को देने वाला धर्मलाभरूपी आशिर्वाद तुम्हारी लक्ष्मी को बढ़ाए।

ऊँचा हाथ कर धर्मलाभरूपी आशीर्वाद देने से सूरि पर संतुष्ट होकर राजा ने उसको करोड़ों द्रव्य भेंट किया परन्तु

× इस श्लोक का तीसरा पद हमारे पासवाली मूल प्रतों में नहीं है।

गुरु ! तुम्हारे सदृश महर्षि दुनियां में कैसे हो ? कोई भाग्य से ही होगा क्यों कि—

> अहयो बहवः सन्ति, भेकभक्षणदक्षिणाः ।
> एकः स एव शेषः स्यात्, धरित्रीधरणक्षमः ॥१॥

भावार्थः—मेंढ़ को भक्षण करने में प्रवीण सर्प तो दुनियां में बहुत से हैं परन्तु पृथ्वी को धारण करने में समर्थ शेषनाग तो एक ही है ।

इत्यादि गुरु की स्तुति कर राजा अपने स्थान को चला गया । इस प्रकार श्री जैनशासन की बहुत उन्नति होने से श्री संघ सूरि पर प्रसन्न हुआ और सूरि की आलोयणा के शेष पांच वर्षों की माफी देकर उनको वापिस सूरिपद पर स्थापन किया ।

एक बार कुवादीरूपी अंधकार का नाश करने में सूर्य सदृश सूरि ओंकारपुर गये । वहां के श्रावकोंने कहा कि-हे स्वामी ! यहां मिथ्यात्वियों का अधिक जोर होने से वे जिनचैत्य नहीं बनाने देते । इस पर सूरि चार श्लोक बना कर उनको अपने हाथ में ले कर राजा विक्रम की सभा में गये और द्वारपाल के हाथ में एक श्लोक देकर राजा को भेंट करने को कहा । उसने वह श्लोक राजा को जाकर दिया जो इस प्रकार था ।

> भिक्षुर्दिदृक्षुरायातस्तिष्ठति द्वारवारितः ।
> हस्तन्यस्तचतुः श्लोकः किं वागच्छति गच्छति ॥२॥

भावार्थ:—कोई भिक्षुक आप से मिलना चाहता है। द्वारपाल के रोक देने से वह द्वार पर खड़ा हुआ है। उसके हाथ में चार श्लोक हैं अतः उत्तर दीजिये की वह सभा में आवे या वापस लौट जावे ?

इस के उत्तर में राजाने एक श्लोक लिख कर भेजा कि-

दीयते दशलक्षाणि, शासनानि चतुर्दश।
हस्तन्यस्तचतुःश्लोकः यद्वागच्छतु गच्छतु ॥१॥

भावार्थ:—जिस के हाथ में चार श्लोक हों उसको दश लाख रुपये और चौदह ग्राम दिये जाते हैं अतः अब आना चाहते हो तो आइये और जाना चाहते हो तो जाइये।

उसे पढ़ कर सूरि राजसभा में गये और राजाद्वारा बतलाये हुए आसन पर उसके सन्मुख बैठ कर चारों दिशायों में घूम कर एक एक श्लोक पढ़ा। राजा प्रत्येक श्लोक के बोलने पर दिशा बदल बदल कर बैठा अर्थात् चारों श्लोकों के बोलने पर उसने चारों दिशाओं में मुंह किया। वे श्लोक इस प्रकार थे।

अपूर्वेयं धनुर्विद्या, भवता शिक्षिता कुतः।
मार्गणौघः समभ्येति, गुणो याति दिगन्तरम् ॥

व्याख्यान ३० वां

ित्त शास्त्र के जानकार चौथे प्रभावक के विषय में

योऽष्टांगनिमित्तानि, शासनोन्नतिहेतवे ।
प्रोच्यते प्रयुञ्जमानश्चतुर्थोऽयं प्रभावकः ॥१॥

भावार्थः—अष्टांग निमित्त का शासन की उन्नति के लिये ा करनेवाले मुनि चौथे प्रभावक कहलाते हैं। इस प्रसंग द्रबाहुस्वामी का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

भद्रबाहुस्वामी का दृष्टान्त

दक्षिण देश में प्रतिष्ठानपुर नगर के भद्रबाहु और वराह- नामक दो पंडित भाइयोंने यशोभद्रसूरि के पास दीक्षा की। अनुक्रम से ज्येष्ठ भ्राता भद्रबाहु के चौदह पूर्व का ास करने से गुरुने उसे सूरिपदवी प्रदान की। उसने दशवै- क, आवश्यक आदि दस सूत्रों पर निर्युक्ति की। एक बार मिहरने ज्ञान के गर्व से अपने ज्येष्ठ भ्राता को उसे भी सूरिपद ो लिए कहा इस पर उसने उत्तर दिया कि—हे भाई! तू न तो अवश्य है किन्तु तेरे अभिमानी होने से तू अभी ाद के लिए अयोग्य है। इस से वराहने क्रोधित हो कर का वेष त्याग कर फिर से ब्राह्मण वेष को धारण कर लिया।

आपने उसका बिल्ली के मुंह से मृत्यु होना कहा था किन्तु ऐसा नहीं हुआ इसका क्या कारण है ? गुरुने उत्तर दिया कि-बिल्ली के मुंह से ही उसकी मृत्यु हुई है। यदि आपको विश्वास न हो तो उस अर्गल के अग्रभाग को देखिये कि उस पर बिल्ली का चित्र बना हुआ है या नहीं ? आयुष्य के विषय में हमने पूर्व के आम्नाय अनुसार लग्न लेकर शास्त्रानुसार निश्चय किया था जब कि वराहने पुत्र-जन्म होने पश्चात् जब दासी ने राज्यप्रासाद के ऊंचे भाग पर चढ़ घंटा बजाया था तब पुत्र-जन्म होना मान कर लग्न लिया था इससे मेरे व उसके लग्न में अन्तर रहा है। यह सुन कर वराह को बड़ा खेद हुआ और उसने समस्त पुस्तकों को जल में फैंक देना चाहा, परन्तु सूरि ने उसको ऐसा करने से निषेध कर कहा कि-हे भाई ! ये सर्व शास्त्र सर्वज्ञप्रणीत होने से शुद्ध ही हैं।

अमंत्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम् ।
अनाथा पृथ्वी नास्ति, आम्नायाः खलु दुर्लभाः ॥१॥

बिना मंत्र का कोई अक्षर नहीं होता, बिना औषध का कोई मूल नहीं होता और न बिना स्वामी के कोई पृथ्वी का हिस्सा ही होता है परन्तु उनकी आम्नाय होना दुर्लभ है।

इत्यादि बातें समझाबूझा कर सूरिने उसको शान्त किया। फिर एक दिन राजा ने सूरि तथा ब्राह्मण को पूछा कि-आज नई बात होगी यह बतलाइये ? वराहने उत्तर दिया-सायंकाल को

अमुक स्थान पर अकस्मात् अनावृष्टि होगी और निश्चित् मंडल में एक बावन पल का मत्स्य आकाश से गिरेगा। फिर सूरि ने कथन किया कि-इनका कहना सत्य है परन्तु इक्कावन पल का मत्स्य गिरेगा और वह मंडल के बाहर पूर्व दिशा में गिरेगा। वास्तव में गुरु के वचनानुसार ही हुआ अतः राजा ने जैन धर्म को स्वीकार किया, वराहमिहिर ने तापसी दीक्षा ग्रहण की और अज्ञान कष्ट कर आयुष्य के पूर्ण होने पर मर कर व्यंतर हुआ। पूर्व के द्वेष के कारण इसने साधुओं पर उपद्रव करने का विचार किया किन्तु ऐसा करने में अपने आपको अशक्त पाकर इस दुष्ट ने श्रावकों में रोग उत्पन्न करना आरम्भ किया। श्रावकों द्वारा यह वृत्तान्त सुन कर गुरु ने उपसर्ग नाश करने वाला उपसर्गहर स्तोत्र बना श्रावकों को सदैव उसका पठन करने को कहा जिससे वह व्यंतर श्रावकों को भी कोई कष्ट न पहुंचा सका। "उपसर्गहर" स्तोत्र का आज भी पाठ करने से उपद्रव का नाश हो जाता है। अनुक्रम से अनेकों भव्य जीवों को प्रतिबोध कर भद्रबाहुस्वामी स्वर्ग सिधारे।

भद्रबाहुस्वामी ने शुभ निमित्त के बल से राजा को जैन धर्मी बनाया, इसी प्रकार अन्य को भी शासन की उन्नति के लिये प्रयास करना चाहिये।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादग्रंथस्य वृत्तौ द्वितीयस्तंभे
त्रिंशत्तमं व्याख्यानम् ॥ ३० ॥

॥ इति द्वितीयः स्तंभः ॥

व्याख्यान ३२ वां

छट्ठा विद्याप्रभावक विषय में

मंत्रयन्त्रादिविद्याभिर्युक्तो विद्याप्रभावकः ।
संघाद्यर्थं महाविद्यां, प्रयुञ्जयति नान्यथा ॥ १ ॥

भावार्थः—जो मंत्र, यंत्र आदि विद्या से युक्त हों उनको विद्याप्रभावक कहते हैं। विद्याप्रभावक अपनी विद्या का उपयोग केवल संघ आदि कार्य के लिये ही करते हैं अन्यथा नहीं। इस पर निम्न लिखित श्री हेमचन्द्राचार्य का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

श्री हेमचन्द्रसूरि की कथा

धंधुका ग्राम में मोढ़ जाति में उत्पन्न चांगदेव ने देवचन्द्रसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। गुरुने अनुक्रम से उसका नाम हेमचन्द्रसूरि रक्खा। अनुक्रम से पाटण में कुमारपाल राजा के राज्यकाल में वे वहां पहुंचे और उसके मंत्री उदयन से पूछा कि-क्या राजा कभी हमारा भी स्मरण करता है या नहीं ? उदयन ने उत्तर दिया कि-कभी नहीं। इस पर सूरि ने कहा कि-हे मंत्री! आज तू राजा को एकान्त में जाकर कहना कि-आज वह नई रानी के महल में सोने के लिये न जाय। मंत्री ने उसी प्रकार राजा को कहा। उसी रात्रि को रानी के महल पर बिजली गिरी

ससे महल नष्ट हो गया और रानी भी मृत्यु को प्राप्त हुई। ह देख कर राजा को बड़ा भारी आश्चर्य हुआ और उसने मंत्री े पूछा कि–तुमको यह सूचना किसने दी? ऐसे उत्कृष्ट ज्ञान-ाला कौन पुरुष है? इस पर मंत्री ने हेमचन्द्रसूरि से यह बात सुनना जाहिर किया। यह सुनकर राजा शीघ्रतया हेमसूरि के पास पहुँचा और उसको प्रणाम कर कहने लगा कि–हे पूज्य! मैं आपका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ अतः मेरे राज्य को स्वयं ग्रहण करने की कृपा कीजिये। सूरि ने कहा कि–हे राजा! हम को राज्य ग्रहण करना मना है, परन्तु—

कृतज्ञत्वेन राजेन्द्र!, चेत्प्रत्युपचिकीर्षसि।
आत्मनीने तदा जैनधर्मे धेहि निजं मनः ॥ १ ॥

भावार्थः—हे राजेन्द्र! यदि तू कृतज्ञ होकर प्रत्युपकार करना चाहता हो तो आत्महितकारक जैनधर्म में अपना मन स्थिर कर अर्थात् जैनधर्म को स्वीकार कर।

राजा ने 'तथास्तु' कह कर जैनधर्म को स्वीकार किया।

एकबार राजासूरि को साथ लेकर सोमेश्वर की यात्राके लिये गया। वहां राजा ने महादेव को वन्दना की इस पर ब्राह्मणोंने राजा से कहा कि–हे राजा! जैनावलम्बी तो अपने तीर्थंकर के अतिरिक्त अन्य देवता के सामने सिर नहीं झुकाते। यह सुनकर राजा ने सूरि को शिवजी की वन्दता करने को कहा तो सूरि बोले कि—

सीखने की इच्छा से श्रावक बन निरन्तर उनके चरणों की सेवा करने लगा। निरन्तर गुरु के चरण कमलों की सेवा करने से औषधियों की गन्ध से एक सौ सात औषधियों को उसने पहचान लिया। फिर उन सात औषधियों को जल में मिलाकर उनका लेप कर आकाश में उड़ना चाहा परन्तु थोड़ी दूर उड़ कर वह इधर उधर वारम् गिरने लगा इससे उसके शरीर पर कई स्थान पर निशान बन गये। गुरु ने उसको देख कर उससे पूछा कि हे भद्र! तेरे शरीर पर यह निशान किसके हैं? इस पर योगी ने सब हाल सचसच गुरु से निवेदन किया। उसकी सत्यता तथा बुद्धि से रंजित हो गुरु ने उसको शुद्ध (सत्य) श्रावक बनाया। विहार समय गुरुने उससे कहा कि-हे श्रावक! यदि तुझे आकाश में उड़ने की इच्छा हो तो एक सौ सात औषधियों को साठी चोखा के ओसामण में एकत्र कर उसका लेप करना कि-जिससे स्खलना न हो। इस प्रकार गुरु वचन से अपना मनोरथ पूर्ण कर वह अपने स्थान को लौट गया।

एक बार उस नागार्जुनने बहुत सा द्रव्य खर्च कर स्वर्ण सिद्धि प्राप्त की और गुरु के उपकार का प्रत्युपकार करने के लिये उस रस की एक कुंपी भर अपने शिष्य के साथ गुरु को भेंट करने को भेजा। गुरुने उसको देख कर उत्तर दिया कि-हमारे लिये तृण और स्वर्ण एक समान है अतः हमें इस अनर्थकारक रस की आवश्यकता नहीं है। ऐसा कह कर गुरुने भस्म मंगवा

कर उस रस को उस में डाल दिया और उस कुंपी में अपना मूत्र भर वापस कर दिया जिस को शिष्योंने वापस नागार्जुन के पास ले आकर सर्व वृत्तान्त कहा। जिसे सुन कर क्रोध से आग बबूला हो योगीने विचार किया कि– अहो! यह साधु कैसा अविवेकी है? ऐसा विचार कर उसने उस कुंपी को पत्थर पर फैंक दिया परन्तु ज्योंही वह कुंपी पत्थर से टकराई की वह शिला क्षण भर में स्वर्णमय हो गई। उसको देख आश्चर्यचकित हो योगीने विचार किया कि अहो!

मया क्लेशसहस्रेण, रससिद्धि र्विधीयते।
अमीषां तु स्वभावेन, स्ववपुष्येव विद्यते ॥१॥

भावार्थः—"मैंने जिस सिद्धि को हजारों क्लेश सहन कर उत्पन्न की है वह सिद्धि गुरु के शरीर में तो स्वभाव से ही विद्यमान है।" अतः नागार्जुन कल्पवृक्ष तुल्य गुरु की वन्दना और स्तुतिद्वारा चिरकाल पर्यन्त सेवा करने लगा।

इस समय चार ऋषियोंने लाख लाख श्लोकों के ग्रन्थ बना कर राजा शालिवाहन की सभा में आकर कहा कि–हे राजा! हमारे ग्रन्थ को सुनिये। राजाने इतने बृहद् ग्रन्थ को सुनने का अवकाश नहीं होना कहा। इस पर उन्होंने पचास पचास हजार श्लोकों के ग्रन्थ बनाये किन्तु फिर भी राजाने वार वार इतने बृहद् ग्रन्थ के सुनने में आनाकानी की तो अन्त में वे एक एक

शब्दानुशासन व्याकरण आदि तीन करोड़ ग्रन्थ[1] बनाये हैं। उमास्वाति वाचकने तत्त्वार्थ आदि पांच सो ग्रन्थ, वादी देवसूरि ने चोरासी हजार श्लोकवाला स्याद्वादरत्नाकर ग्रन्थ तथा श्रीहरिभद्रसूरि ने चौदह सो चवालीस ग्रन्थ बनाये हैं। श्री हरिभद्रसूरि की कथा निम्न लिखित प्रकार से है।

श्री हरिभद्रसूरि की कथा

चित्रकूट (चितोड़गढ) में हरिभद्र नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह चौदह विद्या में निपुण और सर्व शास्त्रों का ज्ञाता था, अतः मानो अपना पेट न फूट जाय इस भय से अपने पेट पर लोहे का पट्टा बांधे रहता था और यह प्रतिज्ञा कर इधर उधर भ्रमण किया करता था कि—यदि मैं किसी का बोला हुआ न समझूंगा तो उसका शिष्य हो कर उसकी सेवा करुंगा। एक समय वह जब नगर में घूम रहा था तो उसने याकिनी नामक साध्वी के मुंह से यह गाथा सुनी कि—

चक्किदुगं हरिपणगं, पणगं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव, दुचक्की केसि अ चक्की अ ॥ १ ॥

भावार्थः—प्रथम दो चक्रवर्ती, बाद में पांच वासुदेव, बाद में पांच चक्री, बाद में एक केशव (वासुदेव), बाद में एक

---

१ ग्रन्थ शब्द श्लोकवाचक है ऐसा कई पुरुष कहते हैं, अन्यत्र साढ़े तीन करोड़ भी लिखे गये हैं।

धण धणसिरिओ अ पइभज्जा ॥१॥
जय विजयाय सहोयर,
धरणो लच्छी अ तह पइभज्जा ।
सेण विसेणा पित्तिअ,
उत्ता जंमंमि सत्तमए ॥२॥

गुणचंद वाणमंतर, समराइच गिरिसेण पाणो उ ।
एगस्स तओ मुक्खो-ऽणंतो बीअस्स संसारो ॥३॥

जह जलइ जलं लोए,
कुसत्थपवणाहओ कसायग्गी ।
तं जुत्तं न जिणवयण—
अमिअसित्तोवि पज्जलइ ॥४॥

भावार्थः—गुणसेन राजा ने अग्निशर्मा ऋषि को मास-
क्षमण के पारणे का निमंत्रण दिया था किन्तु किसी कारणवश वह
उसको पारणा न करा सका अतः अग्निशर्माने उस पर वैरभाव
से नियाणा किया। यह पहला भव। दूसरे भव में सिंह राजा
को आनन्द (अग्निशर्मा का जीव) नामक पुत्र ने विष देकर
मारा। तीसरे भव में शिखी पुत्र को जालणी माता ने विष
खिला कर मारा। चौथे भव में धन्ना को धनश्री स्त्रीने मारा।
पांचवे भव में जय को विजय भाई ने मारा। छट्ठे भव में धरण

...ोर से धन देकर उसे मुक्त कराया और उसको अपने घर ले जाकर नौकर रक्खा। अनुक्रम से बुद्धिमान सिद्धकुमार को श्रेष्ठी ने अपना सर्व कार्यभार सौंप दिया और उसका एक कन्या के साथ विवाह भी कर दिया। यह सिद्धकुमार श्रेष्ठी का सर्व काम बहुत रात व्यतीत होने तक करके अपने घर पर सोने को आया करता था। एक बार वह बहुत देर से सोने को गया तो निद्राग्रसित उसकी माता तथा स्त्री ने पूछा कि–इतनी देर से क्यों आया? इस समय कोई दरवाजा नहीं खोलता अतः जहां दरवाजा खुला हो वहां चला जा। यह सुनकर सिद्धकुमार ने "बहुत अच्छा" कह कर मार्ग में भ्रमण करना आरम्भ किया कि–उसने श्रीहरिभद्रसूरि के उपाश्रय का दरवाजा खुला हुआ देखा, अतः वह सूरि के पास पहुंचा और प्रतिबोध प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण की। फिर अनुक्रम से शास्त्र का अभ्यास कर अच्छा विद्वान् होने पर तर्कशास्त्र की जिज्ञासा होने से उसने बौद्ध धर्म का रहस्य जानने के लिये हरिभद्रसूरि से आज्ञा मांगी। सूरिने उसको आज्ञा देकर कहा कि–यदि बौद्ध के संग से तेरा मन फिर जाये और तुझे उस धर्म में श्रद्धा हो जाय तो हमारा वेष वापस हमको देजाना। सिद्धमुनि यह शर्त स्वीकार कर बौद्ध लोगों के पास विद्याभ्यास के लिये गया। बौद्धों के कुतर्क से उसका मन विचलित हो जाने से वह वेष लौटाने के लिये सूरि के पास जाने लगा तो उस समय बौद्ध लोगों ने भी उससे कहा कि–यदि कदाचित् हरिभद्र-सूरि तुम्हारा मन फिरा दे तो हमारा वेष भी हमको वापसी

भावार्थः—जिस अकार्य के करने से लौकिक निन्दा हो, और अपने कुलक्रम में मलिनता आवे ऐसा अकार्य कुलीन पुरुषों को प्राण नाश आने पर भी नहीं करना चाहिये । इत्यादि ।

प्रातःकाल राजा उस प्रासाद को देखने गया तो वहां उन श्लोकों को पढ़ कर विचार करने लगा कि—मेरे मित्र के अतिरिक्त अन्य ऐसा बोध कौन दे सकता है ? अरे ! मैं कैसा अकार्य करने को तैयार हो गया हूं ? मेरे जीवन को धिक्कार है ! अब मैं मेरे लोक को मुख किस प्रकार बताऊं ? अब तो मेरे इस कलंकित जीवन को ही धिक्कार है ! इत्यादि अनेकों प्रकार से पश्चात्ताप कर उसने अग्नि में प्रवेश करने का निश्चय किया । प्रधानादिने इसकी सूचना सूरि को दी तो उन्होंने आकर राजा से कहा कि—हे राजा ! इस प्रकार आत्महत्या करने से क्या फल मिलेगा ? मन से बांधे हुए कर्म का मन से ही नाश किया जाता है अथवा इस विषय में तू स्मार्त धर्मानुयायी ब्राह्मणों से पूछना क्योंकि स्मृतियों में भी पाप का प्रायश्चित्त करना बतलाया गया है । यह सुन कर राजाने ब्राह्मणों को बुला कर उसका प्रायश्चित्त पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि—

आयःपुत्तलिकां वह्निध्मातां तद्वर्णरूपिणीम् ।
आश्लिष्यन्मुच्यते सद्यः पापाचांडालीसंभवात् ॥

भावार्थः—लोहे की पुतली को अग्नि में तपा कर अग्नि के वर्ण सदृश लाल कर उसको आलिंगन करने से उत्पन्न पाप से मनुष्य तत्काल मुक्त हो सकता है ।

भावार्थः—धर्म के अनेकों कार्योंद्वारा निरन्तर तीर्थ की (जैनशासन की) उन्नति करना प्रभावना नामक समकित का तीसरा भूषण कहलाता है। इसका भावार्थ देवपाल राजा के प्रबन्ध से प्रत्यक्ष है—

देवपाल राजा की कथा

अचलपुर में सिंह नामक राजा राज्य करता था। उस नगर में जिनदत्त नामक एक श्रेष्ठी रहता था जो राजा का अत्यन्त कृपाभाजन था। उसके देवपाल नामक एक सेवक था जो सदैव वन में श्रेष्ठी की गायों को चराया करता था। एक वार देवपालने वर्षाऋतु में नदी के किनारे पर श्रीयुगादि जिनेश्वर का सूर्य की कान्ति सदृश एक प्रकाशित बिंब देखा। उसने उसको एक घास की झोपड़ी में स्थापित कर पुष्पादिक से उसकी पूजा कर यह नियम ग्रहण किया कि—"आज से सदैव बिना इन प्रभु की पूजा किये मैं भोजन कभी नहीं करुंगा।" ऐसा नियम कर वह अपने स्थान को लौट गया। एक वार अत्यन्त वर्षा होने से नदी भरपूर बहने लगी और देवपाल नदी के सामने किनारे पर न जा सका इस से वह बिना प्रभु के दर्शन किये शोकातुर हो वापस घर को लौट आया। घर पर श्रेष्ठिने उसको भोजन करने को कहा तो उसने अपने नियम ग्रहण की वार्ता बतला कर भोजन करने से मना किया। यह सुन कर श्रेष्ठी हर्षित हो कर उस से कहने लगा कि—यदि ऐसा है तो अपने गृहचैत्य की पूजा करले, यह सुन कर

उस जिनबिंब को निकाल पूजा कर देवपाल राजाने जिनशासन की प्रभावना की।

वह देवपाल राजा पूर्व के सिंह राजा की पुत्री साथ विवाह कर भोगविलास करने लगा। एक बार वह रानी राजा के साथ अपने महल के झरोखे में खड़ी थी कि—उस समय एक वृद्ध अपने सिर पर काष्ठ का बोझ लेकर उसी ओर होकर निकला जिसको देख कर रानी तुरन्त ही मूर्च्छित हो गई। राजाने शीतोपचार द्वारा उसको सचेत किया तो उसने उस वृद्ध को महल में बुलाकर उसके समक्ष अपना सारा वृत्तान्त राजा को कह सुनाया कि-हे स्वामी मैं पूर्व भव में इस पुरुष की स्त्री थी। आप जिस बिंब की पूजा करते हो उसी बिंब की पूजा उस समय मैंने की थी इसलिये उस पूजा के प्रभाव से इस जन्म में मैं राजा की पुत्री होकर आपकी रानी बनी हूँ। पूर्व भव मैंने इस पुरुष को बहुत कहा था किन्तु इसने मेरे कहने पर किंचित् मात्र भी ध्यान देकर धर्म को अंगीकार नहीं किया इससे यह अभी तक इस अवस्था में है। यह सुन कर वह वृद्ध काष्ठवाहक धर्मानुरागी बना।

देवपाल राजाने अनुक्रम से परमात्मा की पूजा प्रभावना कर तीर्थंकरनामकर्म उपार्जन किया और अन्त में प्रव्रज्या ग्रहण कर स्वर्ग सिधारा।

जैसे रंक देवपालने जिनेश्वर की पूजा केप्रभाव से उसी भव में अश्व, हस्ती आदि सैन्य से व्याप्त राज्य को प्राप्त किया और

एक स्त्री का दृष्टान्त

राजपुर नगर में अमिततेज राजा के राज्यत्वकाल में एक परिव्राजक रहता था। वह मंत्रों का जाननेवाला था और विद्या के बल से नगर में सर्वत्र चोरी किया करता था तथा लोगों की स्वरूपवती स्त्रियों का हरण किया करता था। कहा भी है कि—

जं जं पासई जुवमणतेणि,
अलिऊलसामलकुंतलवेणि।
भालत्थलअट्ठमिससिकरणि,
मयणंदोलत्तोलियसवणि ॥ १ ॥
रूवविणिज्जियसुरवरतरुणि,
रइरससायरतारणतरणि।
तणुपहदासीकयनवतरणि,
तं तं सामिय हरइ स रमणि ॥२॥

भावार्थः—भ्रमर के सदृश श्याम केशपासवाली, अष्टमी के चन्द्र सदृश शोभित कपालवाली, कामदेव के आंदोलन (झूले) सदृश कर्णवाली, स्वस्वरूप से देवांगनाओं को लज्जित करनेवाली रतिरस के सागर को पार करने में प्रवहण सदृश, स्वशरीर की कान्ति से नये उगनेवाले सूर्य को भी मलिन करनेवाली आदि गुण जिन स्त्रियों को वह देखता था उन उनका वह अवश्य अपहरण करता था।

व्याख्यान ३८ वां

अरिहंतादिक के विषय में अंतरंग भक्तिरूप चौथा भूषण.

यथा ऽर्हदादीनां, यद्भक्तिरान्तरीयकी ।
अलंकारश्चतुर्थः स्यात्सम्यक्त्वगुणद्योतकः ॥१॥

भावार्थः—यथायोग्य अर्हिंसादिक की अभ्यन्तर भक्ति करना सम्यक्त्व गुण का उद्योतक चौथा भूषण कहलाता है।

धर्म पर अन्तरंग प्रीति के विषय में एक स्त्री का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

ने अपने सातों भवों को देखा, अतः विचार करने लगा कि–
ो ! मैं उस मुनि के पाप का कारण हूं। ऐसा विचार कर उस
न की परीक्षा के लिये उसने एक लाख स्वर्णमुद्रा देने की
पणा कराई। वह श्लोक इस प्रकार था –

विहगः शवरः सिंहो, द्वीपी संदः फणी द्विजः॥

इस अर्द्ध श्लोक को पूर्ण करने के लिये सब लोग निर-
र चलते फिरते उसको बोलते रहते थे परन्तु कोई भी उस
क की पूर्ति नहीं कर सका। अन्त में वही राजर्षि घूमते फिरते
राणसी नगरी में आये और ग्राम के बाहर किसी ग्वाले के
ह से उस अर्द्ध श्लोक को उच्चारण करते हुए सुना अतः क्षण-
र विचार कर उस मुनिने इस प्रकार उसका उत्तरार्द्ध पूर्ण
या कि –

येनामी निहताः कोपात्, स कथं भविता हहा॥

यह उत्तरार्द्ध सुन कर उस ग्वालेने राजा के पास जा
स श्लोक की पूर्ति की और धृष्टतापूर्वक राजा से कहा कि–यह
मस्या मैंने ही पूर्ण की है। यह सुन कर राजाने विस्मित हो
व उसको धमका कर पूछा तो उसने उस मुनि का नाम बतला
र सब बात सत्य सत्य वर्णन की। यह सुन कर राजा उस मुनि
के पास गया और उनसे क्षमा याचना की। राजाने उसको सातों
वों का वृत्तान्त सुनाया अतः मुनिने भी उसको खमाया। इस

वह पत्नी मर कर भील हुआ। एक बार उसने उस राज को विहार करते देख कर पूर्व भव के वैर के कारण उस पर क्रोधित हो यष्टिप्रहार किया, इस पर राजर्षिने मुनिपन का भान भूल कर उसे तेजोलेश्या द्वारा भस्म कर दिया। वह मर कर किसी वन में सिंह बना, वहां भी वह राजर्षि को देख कर पूंछ धुनाता हुआ इस पर टूट पड़ा तो उस समय भी मुनिने तेजोलेश्या द्वारा उसको जला डाला। वहां से मर कर वह हाथी हुआ। वह हाथी भी उस मुनि को देख कर उसके ऊपर झपटा तो उसको भी मुनि ने जला दिया। फिर वह हाथी वन का सांढ हुआ तो उसको भी मुनिने जला दिया। वहां से वह सांढ सर्प बन मुनि को काटने को दौड़ा तो उस समय भी मुनिने उसको मार डाला, तत्पश्चात् वह सर्प ब्राह्मण हुआ और मुनि की निन्दा करने लगा तो अनुक्रम से मुनिने उसको भी भस्म कर दिया। अहो! निर्विवेकी को संवर किस प्रकार हो सकता है?

इस प्रकार ममता रहित होने पर भी मुनिने सात हत्याएं की। योगीश्वर हो कर भी ऐसे पाप कर्म किये। अहो! कर्म की कैसी विचित्र गति है? फिर वह ब्राह्मण यथाप्रवृत्तिकरण के कारण शुभ कर्म के उदय से वाराणसी पुरी में महाबाहुक नामक राजा हुआ। वह राजा एक बार अपने महल की खिड़की के पास खड़ा हुआ था कि—उसने किसी मुनि को जाता हुआ देख कर ऊहापोह करने से उस को जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया और

..ने अपने सातों भवों को देखा, अतः विचार करने लगा कि–
..ो ! मैं उस मुनि के पाप का कारण हूँ। ऐसा विचार कर उस
..ने की परीक्षा के लिये उसने एक लाख स्वर्णमुद्रा देने की
..पणा कराई। वह श्लोक इस प्रकार था –

विहगः शबरः सिंहो, द्वीपी संढः फणी द्विजः।

इस अर्द्ध श्लोक को पूर्ण करने के लिये सब लोग निर-
..र चलते फिरते उसको बोलते रहते थे परन्तु कोई भी उस
..ोक की पूर्ति नहीं कर सका। अन्त में वही राजर्षि घूमते फिरते
..राणसी नगरी में आये और ग्राम के बाहर किसी ग्वाले के
..ह से उस अर्द्ध श्लोक को उच्चारण करते हुए सुना अतः क्षण-
..र विचार कर उस मुनिने इस प्रकार उसका उत्तरार्द्ध पूर्ण
..या कि –

येनामी निहताः कोपात्, स कथं भविता हहा ॥

यह उत्तरार्द्ध सुन कर उस ग्वालेने राजा के पास जा
..त श्लोक की पूर्ति की और धृष्टतापूर्वक राजा से कहा कि–यह
..मस्या मैंने ही पूर्ण की है। यह सुन कर राजाने विस्मित हो
..र उसको धमका कर पूछा तो उसने उस मुनि का नाम बतला
..र सब बात सत्य सत्य वर्णन की। यह सुन कर राजा उस मुनि
.. पास गया और उनसे क्षमा याचना की। राजाने उसको सातों
..वों का वृत्तान्त सुनाया अतः मुनिने भी उसको खमाया। इस

व्याख्यान ४१ वां

समता का दूसरा संवेग नामक लक्षण

दुःखत्वेनानुमन्वानः, सुरादिविषयं सुखम् ।
मोक्षाभिलापसंवेगाञ्चितो हि दर्शनी भवेत् ॥१॥

भावार्थः—जो पुरुष देवादिक के सुखों को भी दुःख सदृ
समझते हैं, और मोक्ष की अभिलाषा रूप संवेग सहित रहते हैं
उनको समकितवंत कहते हैं।

इस सम्बन्ध में निर्ग्रन्थ मुनि का प्रबन्ध बतलाया है—

निर्ग्रन्थ (अनाथी) मुनि की कथा

राजगृह नगर में श्रेणिक राजा राज्य करते थे। उसने प्रा
के बाहर उद्यान में क्रीडा करते समय एक अत्यन्त कोमल शरी
वाले तथा जगत को विस्मय करनेवाले अत्यन्त रूपवान् मुनि
समाधि में तत्पर देख कर विचार किया कि—

अहो अस्य मुने रूपमहो लावण्यवर्णिका ।
अहो सौम्यमहो क्षान्तिरहो भोगेष्वसंगता ॥२॥

भावार्थः—अहो ! इस मुनि का स्वरूप ! अहो ! इस
लावण्य की वर्णिका ! अहो ! इसकी सौम्यता ! अहो ! इस

मा! और अहो! इसकी भोग में भी असंगति अर्थात् ये सर्व प्रतिम है।

इस प्रकार विचार कर उसको ध्यान में मग्न देख राजाने सके चरणकमलों में सिर झुका प्रणाम कर पूछा कि–"हे पूज्य! सी युवावस्था में आपने ऐसा दुष्कर व्रत क्यों ग्रहण किया? कृपया मुझे इसका कारण बतलाये।" इस पर मुनिने उत्तर दिया कि––

मुनिराह महाराज! अनाथोऽस्मि पतिर्न मे।
अनुकंपाकराभावात्तारुण्येऽप्यात्तं व्रतम् ॥१॥

भावार्थः––"हे महाराज! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई स्वामी नहीं है, मुझ पर अनुकंपा करनेवाले का अभाव होने से मैंने युवावस्था में ही व्रत ग्रहण किया है।"

यह सुन कर श्रेणिक राजाने हँसी उड़ाते हुए कहा कि—

वर्णादिनामुना साधो!, न युक्ता ते ह्यनाथता।
तथापि ते त्वनाथस्य, नूनं नाथो भवाम्यहम् ॥१॥
भोगान् भुंक्ष्व यथास्वैरं, साम्राज्यं परिपालय।
यतः पुनरिदं मर्त्यजन्मातीव हि दुर्लभम् ॥२॥

अर्थात्—"हे साधु! आपके इस रूप आदि को देखते हुए आपके अनाथ होने की बात अयुक्त जान पड़ती है फिर भी

दोनों [illegible] हरिवाहन के साथ [illegible] को [illegible] । फिर राजा [illegible] ने अपना अपना मन [illegible] । इन दोनों कन्याओं का ही [illegible] इन दोनों मित्रों के साथ विवाह संस्कार कराया।

बाद इन्द्रदत्त राजा को अपने कुमार तथा उसके मित्रों का पता लगने से उनको अपने राज्य में बुलाया और हरिवाहन कुमार को राज्यभार सौंपकर स्वयं वैराग्यभाव उत्पन्न होने से प्रव्रज्या ग्रहण की। कुछ समय पश्चात् इन्द्रदत्त मुनि को कर्मक्षय होने से केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, अतः वह भोगवती नगरी में समवसर्े। उस समय हरिवाहन राजा के परिवार सहित उद्यान में जाकर केवली को वन्दना करने पर केवलीने धर्मदेशना दी कि-

विपयामिपसंलुब्धा, मन्यन्ते शाश्वतं जगत्।
आयुर्जलधिकल्लोललोलमालोकयन्ति न ॥१॥

भावार्थः—विपयरूपी मांस में लुब्ध हुए प्राणी इस संसार को शाश्वत-विनाश रहित मानते हैं, परन्तु समुद्र के कल्लोल सदृश चपल आयुष्य को न देखते हैं और न विचार ही करते हैं।

इस प्रकार धर्मदेशना सुन कर राजा ने केवली से पूछा कि-"स्वामी ! मेरा आयुष्य कितना शेप है ?" केवली ने उत्तर दिया कि-"हे राजा ! तेरा आयुष्य केवल नौ पहर मात्र का अवशेष है" यह सुन कर मृत्यु के भय से जब उस राजा का सारा अंग

कांपने लगा तो मुनीश्वर ने कहा कि-"हे राजा! यदि तेरे को मृत्यु की चिन्ता का भय हो तो तू प्रव्रज्या ग्रहण कर: क्यों कि—

अंतोमुहुत्तमित्तं, विहिणा विहिया कोइ पव्वज्जा ।
दुक्खाणं पज्जंतं चिरकालकयाइ किं भणिमो ? ॥१॥

भावार्थः—एक अन्तर्मुहूर्त मात्र तक भी यदि विधिपूर्वक ग्रहण की हुई प्रव्रज्या का उत्तम रीति से पालन किया हो तो वह सर्व दुःखों का अन्त (नाश) करनेवाली होती है, तो फिर जिसने चिरकाल दीक्षा का पालन किया हो उसका तो कहना ही क्या है ? अर्थात् उसका फल तो सर्व दुःखों का नाश करनेवाला है इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है ?।

इस प्रकार ज्ञानी के वचन सुनकर उस राजा ने स्त्री तथा मित्रों सहित शीघ्र ही दीक्षा ग्रहण करली। तत्पश्चात् वह राजर्षि एगोहं नत्थि मे कोई" "मैं अकेला ही हूँ, मेरा कोई नहीं है" आदि शुभ ध्यान ध्याते हुए मृत्यु को प्राप्त कर सर्वार्थसिद्धि विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए। वहां से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न हो मोक्षपद को प्राप्त करेंगे। उनके मित्र तथा अनंगलेखा आदि भी देवगति पाकर अनुक्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त करेंगे।

श्रीजिनेन्द्र के मार्ग के विषय में "निर्वेद" शब्द का अर्थ "संसार पर विराग होना" ऐसा किया गया है। उस निर्वेदरूप

व्याख्यान ४९ वां

आस्तिक्यता नामक पांचवां लक्षण

प्रभुभिर्भाषितं यत्तत्त्वान्तरश्रुतेऽपि हि ।
निःशंकं मन्यते सत्यं, तदास्तिक्यं सुलक्षणम् ॥१॥

भावार्थः—अन्य तत्त्व (मत) का श्रवण करते हुए भी "प्रभुने जो कहा है वह ही सत्य है" ऐसा जो बिना किसी शंका के माना जाय उसे आस्तिक्य नामक चौथा लक्षण कहते हैं। इस विषय पर पद्मशेखर राजा की कथा प्रसिद्ध है—

पद्मशेखर राजा की कथा

पृथ्वीपुर के पद्मशेखर राजाने विनयंधरसूरि से प्रतिबो प्राप्त कर जैनधर्म अंगीकार किया था। वह जैनधर्म की आराध में तत्पर होकर अपनी सभा के समक्ष निरन्तर गुरु का इस प्रक वर्णन किया करता था कि—

निवर्तयत्यन्यजनं प्रमादतः,
स्वयं च निष्पापपथे प्रवर्तते ।
गृणाति तत्त्वं हितमिच्छुरङ्गिनां,
शिवार्थिनां यः स गुरुर्निगद्यते ॥ १ ॥

भावार्थः- अन्य जनों को प्रमाद से निवृत्त करनेवाला स्वयं निष्पाप मार्ग का प्रवर्त्तक तथा हित की इच्छा से मोक्ष के लापी प्राणियों को हितकारी तत्त्व का उपदेश करनेवाला ह कहलाता है।

वंदिज्जमाणा न समुक्कसंति,
हिलिज्जमाणा न समुज्जलंति ।
दमंति चित्तेण चरंति धीरा,
मुणी समुग्घाइयरागदोसा ॥ २ ॥

भावार्थः—जो वन्दना-स्तुति करने से नहीं रीझते और निन्दा करने से खेदित भी नहीं होते तथा चित्तद्वारा इन्द्रियों का दमन करते हैं, धैर्य धारण करते हैं और राग द्वेष का नाश करते हैं उन्हीं को मुनि कहते हैं।

गुरु दो प्रकार के होते हैं, तपस्यायुक्त और ज्ञानयुक्त। तपस्यायुक्त बड़ के पत्ते के सदृश केवल अपनी आत्मा को ही

कार्य के विषय में अहत और अहितकारी वस्तु के विषय में हत-रुंधी हुई होती हैं।

ऐसा सुन कर जयश्रेष्ठी को प्रतिबोध हो गया और उसने जिनेश्वरप्रणीत धर्म के तत्त्व को समझ कर श्रावकधर्म अंगीकार किया। इस प्रकार अनेक प्राणियों को धर्म में स्थापन कर पद्मशेखर राजा स्वर्ग सिधारा।

गुणवान् आस्तिक पुरुषों को निर्मल अन्तःकरण से इस पद्मशेखर राजा के चरित्र को श्रवण कर जिनेश्वर के मत के विषय में शुभ आस्था (श्रद्धा) धारण करनी चाहिये।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ तृतीयस्तंभे
पंचचत्वारिंशत्तम् व्याख्यानम् ॥ ४५ ॥

॥ इति तृतीयः स्तंभः ॥

व्याख्यान ४६ वां

समकित की छ यतना में से प्रथम दो यतना

अन्यतीर्थिकदेवानां, तथान्यैर्गृहीतार्हताम् ।
पूजनं वन्दनं चैव विधेयं न कदापि हि ॥१॥

अन्यतीर्थियों के देवों तथा अन्य द्वारा ग्रहण की हुई अरिहंत की मूर्तियों का पूजन, वन्दन कदापि नहीं करना चाहिये ।

भावार्थः—अन्य तीर्थियों के शंकरादिक देवताओं का पूजन-वंदन आदि कदापि नहीं करना यह पहली यतना कहलाती है। तथा सांख्य, बौद्धादिक अन्य दर्शनियों द्वारा ग्रहण की हुई जिनप्रतिमा का पूजन-वंदन आदि कदापि नहीं करना दूसरी यतना

चाहे मेरे जीवन का ही अन्त क्यों न हो जाय परन्तु मैं जिनेश्वर तथा सुसाधु के अतिरिक्त अन्य को नमस्कार कदापि नहीं कर सकता तथा बिना प्रयोजन जब मैं स्थावर जीव की भी हिंसा नहीं करता तो दूसरे जीवों की हिंसा करने देने की तो बात करना ही वृथा है। हे देव ! तुझे भी इस प्रकार बोलना अनुचित है।" यह सुन कर राक्षसने कहा कि-"हे राजपुत्र ! तो तू इस जिनालय में चल और वहां जो वीतराग का बिम्ब है उसी की तू पूजा कर।" यह बात स्वीकार कर कुमार हर्षपूर्वक उस जिनालय में गया तो उस बिम्ब को बौद्ध लोगोंद्वारा पूजा किया हुआ पाया इससे वह तुरन्त ही वहां से वापस लौट आया और बोला कि "हे देव ! चाहे मेरा शिरच्छेद क्यों न कर दिया जाय परन्तु मैं तेरे वचनों का पालन नहीं कर सकता।" उसका इस प्रकार दृढ़ निश्चय जान कर राक्षस मणिमंजरी को पैर से निगलने लगा। उस समय वह बाला अत्यन्त करुण स्वर से विलाप करने लगी कि-"हे प्राण-प्रिय ! हे नाथ ! मुझे मृत्यु से बचाओ, मेरी रक्षा करो !" इस प्रकार विलाप करती हुई उस बाला को कंठ पर्यन्त निगल कर राक्षसने कुमार से कहा कि- 'हे मूर्खशिरोमणी ! यदि तू दासी को भी नहीं देना चाहता हो तो केवल एक बकरी ही दे दे, अन्यथा मैं इस स्त्री का भक्षण कर बाद में तेरा भी भक्षण करुंगा।" यह सुन कर कुमारने उत्तर दिया कि-"जब मैं कल्पांतकाल तक भी तेरी आज्ञा का पालन नहीं कर सकता तो फिर वारंवार पूछने से

ही पड़ाव किया। मंत्रियों ने शीघ्रतया नया द्वार बनवाया परन्तु वह भी प्रवेश समय टूट गया। फिर एक और द्वार बनवाया गया किन्तु वह भी टूट गया। यह देख कर राजा ने मंत्रियों से कहा कि-यह दरवाजा वारंवार क्यों टूट जाता है ? मंत्री ने उत्तर दिया कि-हे देव ! यदि आप अपने हाथ से एक पुरुष का वध कर बलिदान करें तो इस दरवाजे का अध्यक्ष यक्षदेव प्रसन्न हो सकता है अन्यथा अन्य प्रकार की पूजा, नैवेद्य या बलिदान से उसका प्रसन्न होना कठिन है। इस प्रकार चार्वाक मतानुयायी मंत्री के वचन सुनकर राजाने कहा कि-जिस नगर में जाने के लिये जीव वध करना पड़े उस नगर में जाने से मुझे क्या प्रयोजन ? क्योंकि जिस अलंकार के पहिनने से कान ही टूट गिरे उस अलंकार को पहिनना ही क्यों ? राजनीति भी बतलाती है कि—

न कर्तव्या स्वयं हिंसा, प्रवृत्तां च निवारयेत् ।
जीवितं बलमारोग्यं; शश्वद्वाञ्छन्महीपतिः ॥१॥

भावार्थः—जीवन, बल और आरोग्यता के अभिलाषी राजा को हिंसा कभी नहीं करनी चाहिये अपितु होनेवाली हिंसा का भी निवारण करना चाहिये।

राजा के इस निश्चय को जान कर मंत्रीने समग्र पुरवासियों को बुला कर कहा कि—"हे पुरवासियो ! यदि राजा एक मनुष्य का वध कर बलिदान दे तो यह दरवाजा स्थिर रह सकता था अन्यथा

यह सुन कर विद्याधरेंद्र उसको नंदीश्वर द्वीप को ले गया। वहां शाश्वत जिनबिंबों को वन्दन कर वह विद्याधर तथा मदनरेखा वहां रहनेवाले मणिचूड़ नामक चक्रवर्ती राजर्षि के पास जा, वन्दना कर उसके समीप ही बैठे।

पांचवें देवलोक में उत्पन्न हुआ युगबाहु देव भी अवधि-ज्ञान से अपना पूर्व भव जान कर वहां आ पहुंचा और प्रथम मदनरेखा को वन्दना कर बाद में मुनि को वन्दना की। यह देख कर मणिप्रभ विद्याधरने उससे कहा कि—तुम्हारे विवेकी होते हुए भी प्रथम इस स्त्री को वन्दना कर बाद में मुनि को वन्दना करने का क्या कारण है ? ऐसा अयोग्य आचरण तुमने क्यों कर किया ? ऐसा कह कर उसको उपालंभ दिया तो चारणश्रमण मुनिने इस देव के पूर्व भव का स्वरूप मणिप्रभ को सुना कर कहा कि—हे विद्याधर राजा !

धर्माचार्यमनुस्मृत्य, तूर्णमत्रेयिवानयम् ।
युक्तं मुनिं विहायादौ, ननामैनां महासतीम् ॥१॥

भावार्थः—यह देव अपने धर्माचार्य का स्मरण कर शीघ्रतया यहां आया है, अतः मुनि का त्याग कर इसने जो प्रथम इस महासती को नमन किया है यह युक्त ही है क्योंकि—

पतितो श्रावकेणाथ, योऽर्हद्धर्मे स्थिरीकृतः ।
स एव तस्य जायेत, धर्माचार्यो न संशयः ॥२॥

व्याख्यान ६६ वां

समकित का तीसरा तथा चौथा स्थानक

शुभाशुभानि कर्माणि, जीवः करोति हेतुभिः ।
तेनात्मा कर्तृको ज्ञेयः, कारणैः कुम्भकृद्यथा ॥१॥

भावार्थः—जैसे कुम्हार मिट्टी, चक्र और डोर आदि कारणों से घड़े का कर्त्ता है इसी प्रकार जीव भी कषायादिक बंध के हेतुओं द्वारा शुभ और अशुभ कर्म करता है। यह जीव कर्त्ता है इसे समकित का तीसरा स्थानक समझना चाहिये।

अथ चौथा भोक्ता स्थानक बतलाया जाता है—

स्वयं कृतानि कर्माणि, स्वयमेवानुभूयते ।
कर्मणामकृतानां च, नास्ति भोगः कदापि हि ॥२॥

भावार्थः—स्वयं (आत्मद्वारा जीवद्वारा) किये हुए कर्मों (कर्मों का फल) को तो खुद ही भोगता है क्योंकि नहीं किये हुए कर्मों का भोग (अनुभव) कदापि नहीं होता। यह जीव भोक्ता है इसे समकित का चौथा स्थानक समझना चाहिये। इस प्रसंग पर अग्निभूति गणधर का निम्नलिखित दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

अग्निभूति का दृष्टान्त

मगधदेश के गोबर ग्राम में वसुभूति ब्राह्मण की पृथ्वी नामक स्त्री से दूसरा अग्निभूति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह भी सोमभट्ट के घर पर यज्ञ कराने के लिये पांचसो शिष्यों सहित गया था। उस समय उससे पहिले उसका ज्येष्ठ भ्राता इन्द्रभूति जिनेश्वर के पास गया था जिसने पराजित हो प्रभु पास दीक्षा ग्रहण की। यह बात जब अग्निभूति ने सुना तो उसने विचार किया कि-मेरा भाई इन्द्रभूति तीनों भव में दुर्जय है, उसको किसी ने इन्द्रजाल के बल से (कपट से) भरमा दिया जान पड़ता है और जगद्गुरु मेरे भाई का चित्त भ्रमित कर देना मालूम होता है, अतः अब मैं स्वयं जाकर उसको युक्ति से पराजय करता हूं। अरे! मेरे भाई की यह सबसे बड़ी भूल है कि-वह सर्वज्ञों में सूर्य समान मुझको यहां छोड़ कर चला गया और इन्द्रजालीने भी यह कैसा अकार्य किया कि-अपनी शक्ति को बिना जाने ही सिंह को आलिंगन किया। परन्तु अब मुझे उसके पास शीघ्रतया जाना चाहिये। इस प्रकार वाणी का आडंबर करते हुए अग्निभूति अपने पांचसो शिष्यों को साथ लेकर जिनेश्वर के पास गया। उस समय जिनेश्वर ने उसको "हे गौतम! अग्निभूति आओ" इस प्रकार उसके नाम गोत्र कथनपूर्वक बुलाया। यह सुन कर अग्निभूति ने विचार किया कि-"मैं जगत में प्रसिद्ध हूँ फिर मुझे कौन नहीं जानता? परन्तु यह यदि मेरे मन का संशय जान कर उसका निवारण कर दे तो मुझे अवश्य विस्मय हो।"

यदि किसी को यह शंका हो कि–यदि दीपक की अग्नि का सर्वथा
नाश न हो तो उस अग्नि के बुझाने पर साक्षात क्यों नहीं
दिखाई देती ? इसका यह उत्तर है कि–दीपक के बुझाने पर
शीघ्र ही यह अग्नि अंधकार के पुद्गलरूप परिणाम को पाती है,
अतः वह दिखाई नहीं देती क्योंकि वह अति सूक्ष्मतर परिणाम
को प्राप्त कर लेती है। जैसे घट का अति सूक्ष्म चूर्ण होकर
पृथ्वी के साथ मिलजाने पर बिलकुल दिखाई नहीं देता उस
प्रकार अथवा जैसे आकाश में दिखाई देनेवाले श्याम बादल
अन्य परिणाम पाकर अति सूक्ष्मतर हो जाने से दिखाई नहीं देते
उसी प्रकार दीपक की अग्नि भी अन्य परिणाम पाने से दिखाई
नहीं देती क्योंकि पुद्गल के परिणाम अति विचित्र है। जैसे
यदि स्वर्ण के छोटे-छोटे कतरे किये जाय तो वे चक्षु से देखे
जा सकते हैं परन्तु यदि उसको शुद्ध करने के लिये अग्नि में
डाले जाय और उस स्वर्ण का रस होकर ढुल जाने से भस्म में
मिल जाय तो वह चक्षु से दिखाई नहीं देसकता परन्तु स्पर्श से
स्वर्ण का होना जाना जासकता है, उसका भी यदि अत्यन्त बारीक
चूर्ण कर सूक्ष्म रज के साथ मिला दिया जाय तो वह कीमत रहित
व्यर्थ-सा हो जाता है परन्तु वास्तव में तो उसमें स्वर्ण मौजूद ही
है, नाश नहीं होता क्योंकि फिर यदि उसका विपरीत प्रयोग
किया जाय तो वापस वह जैसा का तैसा स्वर्ण बन सकता है
आदि अनेक प्रकार की विचित्रता पुद्गलों में रही हुई है जिसको

भावार्थः—मात्र दुःख के प्रतिकाररूप ही होने से विषय सुख दुःखरूप ही है। कोढ़, अन्तर्गल, आदि व्याधियें जैसे क्वाथ-पान, छेदन, दंभन आदि चिकित्सा करने से मिटती हैं अर्थात दुःखरूप प्रतिकार से मिटती हैं उसी प्रकार विषय सुख भी मात्र क्षुधा, तृषा, कामविकारादि दुःखों के प्रतिकाररूप होने से ये दुःख ही है तो भी लोक में वे सुख के नाम से ही पुकारे जाते हैं, परन्तु ऐसा उपचार पारमार्थिक सुख विना किसी भी स्थान पर घटित नहीं होता। जैसे किसी पुरुष को सिंह आदि नाम से पुकारा जाय तो लोकरूढ़िद्वारा वह उस नाम से जरूर जाना जा सकता है परन्तु इससे उस सिंह का शब्द सुनने पर लोगों को भयादिक उत्पन्न नहीं होता इसी प्रकार विषय सुख भी वास्तविक सुख पैदा करनेवाले नहीं हैं, मात्र उनका नाम ही सुख है, सुख शब्द से वे जाने जाते हैं। पारमार्थिक सुख तो एक मोक्ष ही में है, उस सुख को कोई उपमा नहीं दी जासकती (निरुपम है) तथा वह सुख प्रतिकार रहित सत्य ही है।

अपितु हे प्रभास! वेद में भी संसार और मोक्ष का स्वरूप बतलाया गया है। वह इस प्रकार है ' न ह वै सशरीरस्य प्रिया-प्रिययोरपहतिरस्ति ! अशरीरं वा वसंतं प्रियाप्रिये न स्पृश्यत इति" न यह अव्यय निषेध के लिये है। ह और वै ये दोनों भी अव्यय हैं इसका अर्थ इस प्रकार होता है। शरीर के साथ रहे वह स शरीरी जीव। उस (जीव) को प्रिय अप्रिय अर्थात् दुःख सुख की

पिछले व्याख्यानों में बताये हुए समकित के ६७ भेदों में से ६१ भेद व्यवहार समकित के अन्तर्गत आते हैं और अन्तिम छ भेद निश्चय समकित के अन्तर्गत आते हैं।

समकित पांच प्रकार का है—

आदावौपशमिकं च, सास्वादनमथापरम् ।
क्षायोपशमिकं वेद्यं, क्षायिकं चेति पञ्चधा ॥१॥

भावार्थ:—प्रथम औपशमिक, दूसरा सास्वादन, तीसरा क्षायोपशमिक, चौथा वेद्य (वेदक) और पांचवां क्षायिक। इस प्रकार पांच तरह का समकित है।

१ औपशमिक समकित—जिसकी कर्मग्रंथी भेदी हुई है (ग्रंथीभेद किया हुआ है) ऐसे शरीर (मनुष्य) को सम्यक्त्व का प्रथम लाभ होते समय प्रथम अंतर्मुहूर्त में होता है। अथवा उपशम श्रेणी पर चढ़े हुए उपशांतमोही को मोह के उपशम से उत्पन्न हुआ वह भी औपशमिक समकित कहलाता है। वह भी अन्तर्मुहूर्त में ही रहता है।

२ समकित के प्राप्त होने पर तत्काल अनंतानुबंधी कषाय के उदय से समकित का वमन करते उस समकित के रस का लेशमात्र आस्वाद प्राप्त होता है। यह दूसरा सास्वादन नामक समकित कहलाता है। यह समकित जघन्य से एक समय तक और उत्कृष्ट से छ आवलिका तक रहता है।

या अन्य व्रत ग्रहण करने में तो मैं समर्थ नहीं हूँ तो भी मैं इतना नियम करता हूँ कि-जो कोई दीक्षा लेने को तैयार होगा उसका मैं महोत्सव करुंगा। इस प्रकार अभिग्रह लेकर कृष्ण वासुदेव अपने घर को गये।

एक बार विवाह के योग्य वय को पहुँची हुई उसकी कन्यायें कृष्ण को प्रणाम करने आई तो वासुदेवने पुत्रियों से पूछा कि-हे पुत्रियो! तुम रानियां होना चाहती हो या दासी बनना चाहती हो? तुम्हारे मन का जो मनोरथ हो बतलाओ। इस पर उन कन्याओंने उत्तर दिया कि-हे पिता! आप के प्रसाद से हम रानियां बनना चाहती हैं। यह सुन कर कृष्णने कहा कि-हे पुत्रियो! यदि तुम्हारी यही इच्छा हो तो श्रीनेमिनाथ के पास जाकर दीक्षा ग्रहण करो। यह सुन कर उन सब कन्याओंने प्रभु के पास जाकर चारित्र ग्रहण किया। एक बार एक रानीने अपनी पुत्री को सिखाया कि-जब तू अपने पिता के पास प्रणाम करने को जाय तब यदि वह तुझे रानी या दासी होने के लिये पूछे तो तू जवाब देना कि-मैं दासी होना चाहती हूं। बाद में जब वह कन्या प्रणाम करने गई तो कृष्णने उस पुत्री को पूछा तो उसने अपनी माता के सिखाने अनुसार उत्तर दिया। यह सुन कर कृष्णने विचार किया कि इस पुत्री की तरह अन्य पुत्रियां भी [illegible] [illegible]

भावार्थः — वद्रिका वन में रहनेवाले रक्तफणवाले नाग को जिसने शस्त्रद्वारा मार कर पृथ्वी पर गिरा दिया वह यह वीरक महाक्षत्रिय है। अपितु जिसने चक्र से वनाई हुई गंगा नदी को जो कि मैला पानी वहा रही थी, वायें पैर से रोक दिया वह यह वीरक महाक्षत्रिय है, तथा कलशीपुर में (कलशा में) रहनेवाली और घोष (शब्द) करती हुई सेना को जिसने एक वांये हाथ से ही रुंध दिया वह यह वीरक सचमुच महाक्षत्रिय है। इसलिये यह मेरी केतुमंजरी नामक पुत्री के लिये योग्य वर है। ऐसा कह कर कृष्णने उस वीरक के साथ उसकी इच्छा नहीं होने पर भी केतुमंजरी का विवाह कर दिया। वीरकने भी कृष्ण के भय से उसके साथ विवाह कर उसको अपने घर लेजा उसकी दास के समान सेवा करने लगा। कई दिन व्यतीत हो जाने पर एक दिन कृष्णने वीरक से पूछा कि–मेरी पुत्री तेरी आज्ञा का पालन करती है या नहीं ? वीरकने उत्तर दिया कि–हे राजा ! मैं ही आप की पुत्री के आज्ञानुसार चलता हूँ। यह सुनकर कृष्णने कृत्रिम क्रोध कर उसको बहुत धिक्कारा, अतः उस वीरकने घर जाकर उसे कहा कि हे स्त्री ! तू क्यों बैठी हुई है ? खेड़ तैयार कर, घर में से कचरा बाहर निकाल, पानी भर कर ला और जल्दी रसोई तैयार कर। इस प्रकार कभी भी नहीं सुने हुए शब्द सुन कर उसने कहा कि-हे स्वामी ! मैं इन में से कोई भी काम नहीं जानती। यह सुन कर वीरकने रस्से से उसको खूब पीटा जिससे

यह रोती रोती अपने पिता के पास गई और उसने सारी बात निवेदन की। इस पर उसने उत्तर दिया कि-तूने दासीपन मांगा था, अतः मैंने तुझे दासीपन दिया है। उसने उत्तर दिया कि-हे पिता! अब मैं उसके घर नहीं जाऊंगी परन्तु आप के प्रसाद से रानी बनूंगी। इस पर कृष्ण ने वीरक सालवी से आज्ञा लेकर उसको प्रव्रज्या ग्रहण कराई। इस प्रकार कृष्णने कई जीवों को दीक्षा दिलाई परन्तु स्वयं अप्रत्याख्यानी कषाय के उदय से व्रतादि ग्रहण न कर सके। एक बार श्रीनेमिनाथ जिनेश्वर रैवतक-गिरि पर समवसर्ये तो कृष्ण अपने परिवार सहित प्रभु को वंदना करने को गया। वहां अठारह हजार साधुओं को उसने द्वादशा-वर्त वंदन द्वारा वंदना की। अन्य राजा तो थक जाने से थोड़े थोड़े साधुओं को वंदना कर ठहर गये परन्तु वीरक सालवीने कृष्ण के साथ साथ अन्त तक सर्व मुनियों को द्रव्य वन्दना की। अन्त में वन्दना के परिश्रम के कारण कृष्ण के गात्र पसीने से आर्द्र हो गये। सर्व मुनियों को वन्दना कर कृष्ण ने प्रभु के पास आकर कहा कि-हे भगवंत! तीन सौ साठ युद्ध करते हुए भी मुझे इतना श्रम नहीं हुआ। इस पर भगवानने कहा कि-हे कृष्ण! तुमको आज बहुत लाभ हुआ है। तुमने आज सात कर्म प्रकृति का नाश कर क्षायिक समकित उपार्जन किया है तथा आने वाली चौवीसी में पहले से गिनते हुए बारहवां और अन्त से गिनते तेरवें अमम नामक तीर्थंकर होने का कर्म उपार्जन किया है

तथा सातवी नरक का जो आयुष्य बांधा था वह तीसरी नरक का हो गया है। यह सुन कर कृष्णने कहा कि-हे भगवन्त! फिर से सर्व मुनियों को वंदना कर तीन नरक का आयुष्य भी तोड़ डालूं। जिनेश्वर ने उत्तर दिया कि-हे कृष्ण! उस समय जो तुम्हारा बिलकुल निःस्पृह भाव था वह अब जाता रहा है, अतः फिर वन्दना करने से वह लाभ नहीं मिल सकता परन्तु जगत के सर्व उत्तम पदार्थ तुझे प्राप्त है इसलिये अब उनसे अधिक क्या चाहता है? अपितु तीसरे नरक का आयुष्य तो निदान (नियाणुं) कर बांधे हुए वासुदेवपन के साथ ही है इसलिये उसका अभाव तो हो ही नहीं सकता। कहा भी है कि-"अनियाणकडा रामा" आदि बलदेव नियाणुं किये बिना होते हैं और वासुदेव तो नियाणुं करने से ही होते हैं। वे कम से कम तीसरे नरक में तो अवश्य जाते ही हैं, अतः तेरा तीसरे नरक का आयुष्य छूटना असंभव है। ऐसा प्रभु के मुंह से सुन कर प्रभु के वचनों को सत्य मान कृष्ण अपने घर चला गया।

यहां पर यदि किसी को शंका हो कि-तीसरे नरक का उत्कृष्ट आयुष्य सात सागरोपम का बतलाया है और नेमिनाथ से लगा कर आनेवाली चौबीशी में बारहवें अमम जिनेश्वर हों तब तक तो अड़तालीस सागरोपम का समय होता है। तो फिर सात सागरोपमवाले एक भव में उतना समय कैसे व्यतीत हो कि-

किसी अन्य अङ्गमर्दक को अभिमान हो तो उसको मेरी जंघा में से बचा हुआ तेल निकाल कर बताना चाहिये। यह सुनकर अन्य अङ्गमर्दकों ने अनेकों उपाय किये परन्तु एक बिन्दु भी नहीं निकाल सके, अतः वे लज्जित हो चले गये। दूसरे दिन अङ्गमर्दक रत्न को राजा ने जंघा का तेल निकालने की आज्ञा दी परन्तु अङ्गमर्दक रत्न दूसरे दिन तेल न निकाल सका। क्योंकि उसकी शक्ति उसी दिन तेल निकालने की थी। राजा की जंघा में रहा हुआ तेल जैसे कुए की छाया कुएं में ही रहती है उस प्रकार उसी जगह स्थित हो गया उससे उसकी जंघा कौए के वर्ण सदृश श्याम वर्ण की हो गई। तब से ही उसका नाम काकजंघा प्रसिद्ध हो गया। राजा जैसे होते हैं लोग ऐसे उपनाम रख देते हैं क्योंकि जगत के मुंह पर कपड़ा नहीं बांध सकते अपितु अच्छे उपनाम बुरे उपनामों के सदृश प्रसिद्ध नहीं होते। देखो मातुग, करगडुक, सावद्याचार्य, रावण आदि नाम जैसे प्रसिद्ध हुए हैं वैसे अच्छे नाम नहीं।

एक बार कोकण देश में निर्धन लोगों का संहार (नाश) करने में महाराक्षस सदृश बड़ा दुष्काल पड़ा जिसमें धनिक लोग भी निर्धन समान हो गये और राजा भी रंक सदृश हो गये। कहा है कि—

मानं मुञ्चति गौरवं परिहरत्यायाति दीनात्मताम्,
लज्जामुत्सृजति श्रयत्यदयतां नीचत्वमालंबते।

भार्याबन्धुसुतासुतेष्वपकृतीर्नानाविधाश्चेष्टते,
किं किं यन्न करोति निंदितमपि प्राणी क्षुधापीडितः ।

भावार्थः—दुष्काल में क्षुधा से पीड़ा पाये हुए लोग मान का त्याग कर देते हैं, गौरव (उच्चपन) को छोड़ देते हैं, दीनता धारण कर लेते हैं, लज्जा का त्याग कर देते हैं, निर्दयता का आश्रय लेते हैं, नीचपन का अवलम्बन करते हैं, भार्या, बंधु, पुत्र और पुत्री के विषय में अनेक प्रकार के अपकार करने की चेष्टा करते हैं अर्थात् उनके दुःख की परवाह नहीं करते। तथा क्षुधा-पीड़ित मनुष्य दूसरे भी कौन-कौन से निन्दित कार्य नहीं करते ? सर्व करते हैं।

ऐसे भयंकर दुष्काल के समय में कोकाश अपने कुटुम्ब का निर्वाह नहीं हो सकने से स्वदेश छोड़ कुटुम्ब सहित उज्जयिनी नगरी में आ पहुंचा। वहां विना किसी की सहायता के कोई राजा से नहीं मिल सकता था, अतः विचार कर अन्त में उस कोकाशने काष्ठ के कपोत बनाये। उनमें कारिगरी से ऐसी किलियें लगाई थी कि—वे कपोत उड़ कर राज्य के धान्य के कोठार में जा जीवित कपोत सदृश चोंच द्वारा चावल, दाल आदि हरेक प्रकार का अनाज अपने काष्ठ शरीर में जितना समासके उतना भर कर पीछे कोकाश के पास लौट आते थे। फिर उनमें से वह अनाज निकाल उनसे कोकाश अपने कुटुम्ब का भरणपोषण किया करता

मित्र था, प्रतिबोध कर जैनधर्म में दृढ़ किया था। जिससे वह अश्व मर कर सौधर्म देवलोक में सामानिक देवता हुआ। उसने तुरन्त ही अवधिज्ञानद्वारा पूर्व की हकीकत जान ली, अतः वह यहां आया और जिनेश्वर के समवसरण के स्थान पर उसने जिनप्रासाद बना उसमें प्रभु का बिंब पधरा उसके सन्मुख अपनी अश्वमूर्ति खड़ी की और अश्वावबोध नामक तीर्थ की स्थापना की इस प्रकार बातें करते हुए और विविध देशों का अवलोकन करते हुए वे लंका नगरी पर आये तो राजाने कोकाश से उसका नाम आदि पूछा। कोकाश ने उत्तर दिया कि–हे स्वामी! यह लंका नगरी है। यहां पहिले रावण नामक राजा हो गया है। उसकी समृद्धि का वर्णन लोक में (लौकिक शास्त्रों में) ऐसा सुना जाता है कि– उस रावण ने नव ग्रहों अपने पलंग के साथ बांधे थे, यमराज को बांध कर पाताल में डाल दिया था, वासुदेव उसके घर कचरा आदि निकालता था, चारों मेघ उसके घर पर गंधयुक्त जल की वृष्टि करते थे, यमराज अपने पाड़े पर जल भर कर लाता था, सातों मातृका देवियें उसकी आरती उतारती थी, शेषनाग उसके मस्तक पर छत्र धारण करता था, सरस्वती उसके पास वीणा बजाती थी, रंभा नामक अप्सरा नृत्य करती थी, तुम्बरु (देव) गंधर्व गायन करता था, नारद दूतपन करता तथा ताल बजाता था, सूर्य रसोई बनाता था, चन्द्र अमृत वृष्टि करता था, मंगल (ग्रह) भैंसे दूहता था, बुध आरसी (काच) दिखाता था, गुरु (बृहस्पति)

घंटा बजाता था, शुक्र (शुक्राचार्य) उसका मंत्री था, शनि उसके गुप्त भाग का रक्षक था, अठ्यासी हजार ऋषिगण पानी के परब से रक्षा करते थे, विष्णु उसके पास मशाल लेकर खड़ा रहता था और ब्रह्मा उसके पुरोहित थे, ऐसा समृद्धिवाला होने पर भी परस्त्री का हरण करने से वह रावण दुःखी हुआ। इस प्रकार बातें करते हुए वे वापस लौट कर अपने नगर को आये।

बाद में पश्चिम दिशा में गये। वहां सिद्धाचल और गिरनार तीर्थ को देख उसका वर्णन किया। इसी प्रकार उत्तर दिशा में गये तो कोकाश ने अष्टापद नामक कैलाश पर्वत, शाश्वत सिद्धायतन का तथा जिनेश्वर के कल्याण के स्थान दिखाये। हस्तिनापुर आने पर उसका वर्णन किया कि–हे स्वामी! यहां सनत्कुमार आदि पांच चक्रवर्ती तथा पांच पांडव हुए थे। श्रीऋषभदेव स्वामी के वरसीतप का पारणा भी यहीं हुआ था। शान्तिनाथ आदि तीन जिनेश्वर के मोक्ष कल्याणक बिना शेष चार-चार कल्याणक यहीं हुए हैं। विष्णुकुमारने उत्तरवैक्रिय शरीर यहीं पर किया था तथा कार्तिकश्रेष्ठीने एक हजार आठ पुरुषों सहित यहीं पर दीक्षा ग्रहण की थी आदि अनेक शुभ कार्य यहां पर हुए हैं। इस प्रकार सदैव नये-नये तीर्थों का महात्म्य सुना कर कोकाश ने राजा को जैनधर्म पर रुचिवाला बना दिया। फिर एक बार कोकाश राजा को ज्ञानी गुरु के पास ले गया। गुरुने धर्मोपदेश करते हुए कहा कि–गृहस्थियों के लिये समकित सहित पांच अणुव्रत, तीन गुण-

व्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर बारह व्रत कहे गये हैं। अन्य धर्म के नियम ग्रहण करने से उनके फल में सामान्य वर्षा के समान कदाचित् संदेह रहता है परन्तु जैनधर्म का फल तो पुष्करावर्त मेघ के सदृश मिलता ही है—निष्फल नहीं जाता। आदि धर्मोपदेश सुनकर राजाने समकित सहित बारह व्रत ग्रहण किये। इनमें से छट्ठे दिग्विरतिव्रत में एक दिवस में प्रत्येक दिशा में एक सौ योजन से अधिक दूर नहीं जाने का नियम लिया।

एक बार राजा यशोदेवी नामक उसकी पट्टरानी सहित काष्ठ गरुड़ पर बैठ कर फिरने जाने को तैयार हुआ था कि—यह हकीकत जान कर विजया नामक दूसरी रानीने सपत्नी (सौत) पर के द्वेष के कारण अपने खानगी पुरुषद्वारा उस गरुड़ की एक मूल कीली निकलवा दी और उसके स्थान पर ठीक वैसी ही नई कीली लगवा दी। इसका किसी को पता न चला। कहा है कि—

उन्मत्तप्रेमसंरंभादारभन्ते यदंगनाः।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं, ब्रह्मापि खलु कातरः ॥१॥

भावार्थः—उन्मत्त प्रेम के वेग से स्त्रियें जो कार्य आरंभ करती हैं उस कार्य में विघ्न डालने में ब्रह्मा भी असमर्थ है।

फिर राजा रानी सहित गरुड़ पर बैठा और कोकाशने गरुड़ को आकाश में उडाया। बहुत दूर जाने के बाद राजा को दिग्विरति व्रत का स्मरण हो आने से कोकाश को पूछा कि—हे

मित्र! हम कितने दूर आये हैं? कोकाशने उत्तर दिया कि-हे स्वामी! हम सौ योजन दूर आये हैं। यह सुन राजाने खेदित होकर कहा कि-हे मित्र! गरुड़ को जल्दी वापस लौटा, वापस लौटा क्योंकि जानने के बाद निषिद्ध आचरण करने से तो मूल व्रत का भंग होता है और अजाने व्रत का भंग होने से अतिचार लगता है जो प्रतिक्रमणादिक करनेद्वारा शुद्ध हो सकता है। अहो! मुझ कौतुकप्रिय को धिक्कार है कि-जिससे मैंने आत्महित भी नहीं जाना। इस प्रकार जैसे अपना सर्वस्व खो गया हो उस प्रकार राजा शोक करने लगा। उस समय कोकाशने गरुड़ को वापस घुमाने के लिये दूसरी कीली को पकड़ा तो यह जान कर कि यह कीली दूसरी है वह चिन्तातुर होकर बोला कि-हे देव! दुर्दैव के वश से किसी दुष्टने इस कीली को बदल दिया है और इस कीली के बिना गरुड़ पीछा नहीं लौट सकता है, अतः अब तो थोड़ी दूर और जाकर नीचे उतर जायें तो अधिक अच्छा होगा क्योंकि यदि यहीं पर उतरेंगे तो यह शत्रु का राज्य होने से अनर्थ का होना संभव है। यह सुन कर राजाने कहा कि-हे मित्र! अनन्त भव तक दुःख देनेवाले व्रतभंग करनेरूप वाक्य तू क्योंकर बोलता है? अनाभोगादिक से (अजान से) कभी निषिद्ध का सेवन हुआ हो तो व्रत के मालिन्यरूप अतिचार लगता है और जानबूझ कर जो व्रत का उल्लंघन किया जाय तो व्रत का भंग ही होता है। अतिचार से खंडित हुआ व्रत तो कच्चे घड़े के सदृश पीछे जोड़ा

जा सकता है परन्तु गगनाचार से हुआ व्रत भंग तो पक्षी के पंख के सदृश पीछे नहीं जुड़ सकता, अतः यहां से एक पग भर भी आगे न बढ़। कहा है कि—

जलधूलीधरित्र्यादि रेखावदितरे नृणाम्।
परं पाषाणरेखेव, प्रतिज्ञा हि महात्मनाम् ॥१॥

भावार्थः - सामान्य जनों की प्रतिज्ञा जल, धूल और पृथ्वी आदि पर की हुई रेखा के समान है (तुरन्तु भंग होनेवाली है) परन्तु महात्माओं की प्रतिज्ञा तो पत्थर की रेखा के समान होती है अर्थात् उसका भंग हो ही नहीं सकता है।

अपितु हे कोकाश ! व्रत के उल्लंघन का फल तो कटु द्रव्य के आस्वाद की तरह अभी प्राप्त हो गया है, अतः उसी ही कीली से यदि लौट सकता हो तो लौटा ले, अन्यथा यहीं पर उतर पड़ना योग्य है। यह सुन कर राजा की दृढ़ता की वारंवार प्रशंसा करता हुआ कोकाश गरुड़ को वापस लौटाने का प्रयास करने लगा इतने में तो उस गरुड़ के दोनों पंख मिल गये और वह नीचे गिर पड़ा। परन्तु उत्तम भाग्य के योग से वह गरुड़ एक सरोवर में गिरा इससे किसी को कोई चोट न पहुँची। फिर राजा, रानी और कोकाश गरुड़ सहित सरोवर के किनारे पर आये। उसके समीप ही कांचनपुर नगर को देख कर कोकाशने राजा को सलाह दी कि–हे स्वामी! आप सावधान होकर यहीं पर कोई न जान सके

इस प्रकार छिप रहिये। मैं ग्राम में किसी रथकार के घर जाकर कीली बना कर लाता हूँ। ऐसा कह कर भयरहित कोकाश राजा के मानेता रथकार के घर गया और उससे कीली बनाने के लिये विशेष प्रकार के ओजार मांगे। वह रथकार एक रथ का पहिया बना रहा था जिसको छोड़ कर उसके मांगे हुए ओजार लाने के लिये वह अपने घर के अन्दर गया। वह ओजार लेकर आया इतनी देर में तो कोकाशने रथ का पहिया उससे भी अधिक सुन्दर दिव्य चक्र (पहिया) बना दिया कि–जो पहिया हाथ में से नीचे रखते ही बिना धक्का दिये हुए ही अपने आप चल सके। उस रथकारने ऐसी असाधारण कला देख कर मन में विचार किया कि–सचमुच यह कोकाश ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा इस पृथ्वी पर ऐसी कला जाननेवाला कौन है ? कोई नहीं। इस प्रकार निश्चय कर वह रथकार किसी बहाने से वहां के राजा के पास पहुँचा और उससे कहा कि–हे राजा ! पुण्य के योग से मेरे घर पर अकस्मात् कोकाश आया हुआ है। यह सुन कर राजाने अपने सेवकों को भेज कर कोकाश को बुला कर पूछा कि–तेरा राजा कहां है ? तो बुद्धिमान कोकाश ने मृत्यु के भय से तथा कुछ मन में विचार कर अपने राजा का पता बतला दिया, अतः कनकप्रभ राजाने सैन्य सहित काकजंघ राजा के पास जाकर उसको बांध विडंबनापूर्वक काष्ठ के पिंजरे में डाल दिया। कालिंगदेश का राजा उसके वैर के कारण उसे खाने को भी कुछ नहीं देता था, अतः अनेक पुरुष दया आने से राजा

इस प्रकार [illegible] प्राप्त कर [illegible] आगे गुरु को [illegible] और कोशा [illegible] दोनों [illegible] की ओर अनुक्रम से केवलज्ञान प्राप्त कर वे दोनों मोक्ष सिधारे।

जगत्प्रसिद्ध [illegible] राजा कोशा की बुद्धि से धर्म में दृढ़ [illegible], [illegible] समकित धारण कर, अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में गये।

इत्युपदेशप्रासादवृत्तौ [illegible] स्तंभे
एकोनषष्टितमं व्याख्यानम् ॥ ५९ ॥

व्याख्यान ६० वां

दीपक समकित

मिथ्यादृष्टिरभव्यो वा, स्वयं धर्मकथादिभिः ।
परेषां बोधयत्येवं दीपकं दर्शनं भवेत् ॥ १ ॥

भावार्थः—जो मिथ्यादृष्टि या अभव्य स्वयं धर्मकथादि कर दूसरों को बोधित करें उनको दीपक समकित होता है।

यहां इस प्रकार जानना कि—अनादि सात भांगे में प्रथम गुणस्थानक में वर्तता कोई मिथ्यादृष्टि जीव किसी भी पुण्य के योग से श्रावककुल में उत्पन्न हो, वहां कुलाचार के कारण गुरु आदि

सामग्री को पाकर बड़ा होजाने की इच्छा से अथवा मत्सर, अहंकार या हठ आदि के कारण जिनबिंब, जिनचैत्य आदि श्रावक के योग्य उत्तम कार्य करता है परन्तु वह देवादिक के सत्य स्वरूप को नहीं जानता तथा ग्रन्थीभेद भी नहीं करता, अतः सम्यगभाव बिना ही वह सुकृत्य करता है। इस प्रकार प्राणी अनन्तीवार वैसे सुकृत्य करता है, परन्तु उससे विशेष लाभ नहीं होता। कहा है कि—

> पाएणणंत देउल-पडिमाओ, कराविआओ जीवेण ।
> असमंजसवित्ताए, न हु सुद्धो दंसणलवो वि ॥१॥

भावार्थः – जीवने प्रायः अनंतीवार चैत्य तथा प्रतिमायें बनाई हैं परन्तु उनको असमंजस वृत्ति से (मिथ्यादृष्टि से) कराई हुई होने से शुद्ध दर्शन (समकित) का एक लेश भी प्राप्त नहीं हुआ (यह गाथा दर्शनरत्नाकर की है)।

अपितु अनादिअनन्त भागे गुणस्थानक में वर्तता कोई अभव्य जीव अनेकों वार गुर्वादिक सामग्री के पाने पर भी कदापि किसी भी भव में सास्वादन स्वभाव (दूसरे गुणस्थानक को) नहीं पा सकता। इसी विषय पर तीनों भुवन के शरणभूत श्रीतीर्थंकर महाराज ने कहा है कि—

> काले सुपत्तदाणं, सम्मविसुद्धं बोहिलाभं च ।
> [illegible] मरणं, अभव्वजीवा न पावंति ॥१॥

[illegible] ॥२॥

[illegible]

[illegible] ॥३॥

भावार्थः- [illegible], [illegible] से विशुद्ध बोधिलाभ तथा अन्त में (मृत्युसमय) समाधि मरण ये बातें अभव्य प्राणी नहीं पा सकते। इन्द्रपन, [illegible], पांच अनुत्तर विमान का वास, लोकांतिक देवपन, ये भी अभव्य प्राणी नहीं पा सकते। शलाका पुरुषपन, नारदपन, त्रायस्त्रिंशत देवपन, चौदह पूर्वधारीपन, इन्द्रपन, केवली पास दीक्षा तथा शासन के यक्ष अथवा यक्षिणीपन ये भी अभव्य प्राणी नहीं पा सकते।

संगम य कालसूरि, कविला अंगार पालया दो वि।
नोजीव गुट्ठमाहिल उदायिनिवमारओ अभव्वा ॥१॥

× उत्तम नर अर्थात् लोकोत्तर पुरुष को शलाका पुरुष कहता है, उनकी संख्या ७५ को किस प्रकार गिनी इसका पता नहीं चलता। ६३ शलाका पुरुष उपरान्त ११ रुद्र गिने तो ७४ होते हैं और नो नारद गिने तो ८३ होते है। कालसित्तरी में इस प्रकार गिने गये हैं। -

भावार्थ:– एक रात्री में श्रीमहावीरस्वामी को एकवीस प्राणांत उपसर्ग करनेवाला संगम देव, कालसौकरिक कसाई, कपिला दासी, अंगारमर्दक आचार्य, दो पालक (पांचसौ मुनियों को पीलानेवाला पालक तथा कृष्ण का पुत्र पालक), नोजीव का स्थापक गोष्ठामाहिल तथा उदायीराजा को मारनेवाला विनयरत्न साधु–ये इस चौबीशी में अभव्य हुए हैं।

चार सामायिक (समकित, श्रुत, देशविरति, सर्वविरति) में अभव्य प्राणी कदाचित् उत्कृष्ट पावे तो श्रुत सामायिक पा सकता है, इससे अधिक अन्य तीन सामायिक का लाभ उसे नहीं मिल सकता।

उपरोक्त भव्य तथा अभव्य दोनों प्रकार के जीव मिथ्यात्व द्वारा युक्त होने पर भी धर्मादिक की प्ररूपणा कर तथा ऊंचे प्रकार की समिति, गुप्ति धारण कर दूसरों को प्रतिबोध करते हैं तथा शासन को दीपाते हैं, अतः कारण के विषय में कार्य का उपचार करने से उनको दीपक समकित कहते हैं। इस प्रसंग पर निम्नस्थ अंगारमर्दकाचार्य का प्रबन्ध प्रसिद्ध है।

अंगारमर्दकसूरि का प्रबन्ध

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में श्रीविजयसेनसूरि के शिष्यने एक बार रात्रिमध्य स्वप्न में पांचसौ हाथियों से युक्त एक सूअर देखा जिसका हाल प्रातःकाल होने पर उन्होंने गुरु से

जिसे सुन कर गुरुने कहा कि–आज कोई अभव्य गुरु (आचार्य) पांच सौ शिष्यों सहित यहां आयेगा। फिर उसी दिन रुद्र नामक आचार्य पांच सौ शिष्यों (साधुओं) सहित उसी ग्राम में आये। उस दिन विजयसेनसूरि ने उनकी अशनादिक से भक्ति की। फिर दूसरे दिन अपने शिष्यों को उस रुद्राचार्य की अभव्यता निश्चय कराने के लिये लघुनीत करने के स्थान पर गुप्त रीति से कोयले बिछवा· दिये। रात्रि में उस रूद्राचार्य के शिष्य जब लघुनीत करने को गये तो पैर के नीचे कोयलों के दबजाने से चमचम शब्द होने लगा। उस शब्द को सुन कर उस साधुओं ने कोयलों को नहीं जानने से जीवों का मर्दन होता है ऐसा जानकर बारंबार पश्चात्ताप कर अपने आत्मा की निन्दा करने लगे और उस पाप का प्रति- क्रमण करने लगे। फिर रूद्राचार्य स्वयं लघुनीत करने को उठे। उन्होंने भी चमचम शब्द सुना, अतः उन पर बारंबार जोर से पैर रखकर शब्द कराते बोले कि–अहो! ये अरिहंत के जीव पुकार करते हैं। इस वाक्य को विजयसेनसूरि ने अपने शिष्यों को प्रत्यक्ष सुनवाया। फिर प्रातःकाल सूरिने रूद्राचार्य के शिष्यों से कहा कि–तुम्हारा यह गुरु अभव्य होने से सेवा करने योग्य नहीं है। क्योंकि—

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु दिंति अनंताइं मरणाइं।
तो वर सप्पं गहियं, मा कुगुरुसेवणा भद्दा ॥१॥

भावार्थः– सर्प (दंशा हो तो) एक ही वक्त मारता

परन्तु कुगुरु तो अनंत भव तक अनंत बार मारता है, अतः सर्प का ग्रहण करना श्रेष्ठ है परन्तु कुगुरु की सेवा करना श्रेष्ठ नहीं।

असंजयं न वंदेज्जा, मायरं पियरं गुरुं ।
सेणावइ पसत्थारं, रायाणं देवया पि वा ॥२॥

भावार्थः—संयम रहित (असंयति विरति रहित) माता, पिता गुरु को वन्दना नहीं करना चाहिये और इसी प्रकार असंयति सेठ, राजा अथवा देवता की भी सेवा नहीं करना चाहिये।

भट्ठायारो सूरि, भट्ठायाराणुविक्खओ सूरि ।
उम्मग्गट्ठिओ सूरि, तिन्नि वि मग्गा पणासंति ॥१॥

भावार्थः—भ्रष्ट आचारवाला सूरि, भ्रष्ट आचारवाले को नहीं रोकनेवाला सूरि और उन्मार्ग की प्ररूपणा करनेवाला सूरि—ये तीनों धर्ममार्ग का नाश करनेवाले हैं।

बाहर से आचार पालनेवाले के लिये श्री अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है कि—जो साधु के गुणों से मुक्त साधु क्रियाओं को करते हैं वे छ जीवनिकाय पर दयावाले नहीं होते, अश्व के सदृश चपल होते हैं, हाथियों के सदृश निरंकुश (मदोन्मत्त) होते हैं, शरीर को घढार मढार मसल समाल कर रखते हैं और धोपे धुपे उज्वल वस्त्र पहिनते हैं और जिनेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कर स्वच्छन्दपन से विचरते हैं वे दोनों समय जो आवश्यक क्रिया

में निर्मलतारूप जो श्रद्धा गुण प्रकट होता है वे ही वस्तुता से समकित कहलाता है।

यहां पर यदि शिष्य शंका करे कि—जीव मिथ्यात्व के पुद्गलों के ही तीन पुञ्ज करता है—शुद्ध, अर्धशुद्ध तथा अशुद्ध। वह इस प्रकार कि—कोद्रवा छिलकों सहित होते हैं उनको छाण आदि लगा कर छिलके निकाल शुद्ध कोद्रवा किये जाते हैं। उन में से जिनके समस्त छिलके निकल जायें वे शुद्ध, आधे रहें वे अर्धशुद्ध और जिनके छिलके ज्यों के त्यों रहें वे अशुद्ध। इस प्रकार तीन पुञ्ज करता है। इस विषय में कहा है कि—

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तम्।
सुद्धमद्धविसुद्धमविसुद्धं, तं हवइ कमसो ॥ १ ॥

भावार्थः—दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं। समकित, मिश्र और मिथ्यात्व। इन में से पहला शुद्ध, दूसरा अर्धविशुद्ध और तीसरा अविशुद्ध इस प्रकार अनुक्रम से तीन पुंज होते हैं।

मदनपन (मैलाप) क्या है? अर्थात् मैलापन कहां रहा कि जिससे ये मिथ्यात्व के पुद्गल कहलाते हैं।

इस शंका का उत्तर गुरु इस प्रकार देते हैं कि-चार प्रकार (चोठाणिया) के महारस के स्थान में रहे (चोठाणिया रसवाला) मिथ्यात्व के पुद्गल मिथ्यात्वरूप बाधकपन को तथा विभावपन को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु कोद्रा के छिलकों के त्याग के समान उन पुद्गलों में से महारस के अभाव से अनिवृत्ति करण करने से एक ठाणिया रस किया जिससे यथार्थ वस्तु परिणाम का व्याघात न करे ऐसा समकित मोहनीय होता है। इसमें कुछ शंकादिक उत्पन्न होती है इससे इसे मोहनीय कहा है। इस समकित मोहनीय का सर्वथा क्षय होने से परमदर्शन (क्षायिक समकित) होता है जिसमें शंकादिक अतिचार कभी भी नहीं लगते। इस प्रकार पुद्गलों के भिन्न-भिन्न नहीं होने पर भी उनके तीन प्रकार होते हैं जिसमें शंका की कोई बात नहीं है।

अब समकितदृष्टि का ज्ञान ही ज्ञान कहलाता है। इस विषय में कहा है कि—

सदाद्यनन्तधर्माढ्यमेकैकं वस्तु वर्तते।
तत्तथ्यं मन्यते सर्वं श्रद्धावान् ज्ञानचक्षुभिः ॥१॥

भावार्थः—प्रत्येक वस्तु सत्, असत् आदि अनंत धर्मयुक्त है उसे सर्व ज्ञानचक्षु से श्रद्धावान् सत्य मानते हैं।

दर्शन (समकित) होता है क्योंकि उससे (समकित से) सर्व पदार्थ के परमार्थ की पर्यालोचना हो सकती है। इस विषय निम्न लिखित सुबुद्धि का दृष्टान्त है—

सुबुद्धि मंत्री का दृष्टान्त

चम्पानगरी के जितशत्रु नामक राजा के सुबुद्धि नामक मंत्री था। वह जैनधर्मी था। एकदा राजा मनोहर षड् रसमय स्वादिष्ट रसवती करा कर अनेकों सामन्त, मंत्री आदि सहित भोजन करने बैठा। खाते खाते स्वादलुब्ध राजा "अहो! यह रसवती कैसी स्वादिष्ट है ? अहो! इसकी सुगंध कैसी सरस है ?" आदि वाक्यों से वारंवार उसकी प्रशंसा करने लगा। उस समय सुबुद्धि मंत्री के अतिरिक्त अन्य सर्व सामन्त आदि भी रसोई के स्वाद आदि की प्रशंसा करने लगे। सुबुद्धि ने तो अच्छी या बुरी कुछ नहीं कहा, अतः राजाने उससे पूछा कि-"हे मंत्री! तुम इस रसोई की कुछ भी प्रशंसा क्यों नहीं करते ? क्या तुम्हें यह रसोई उत्तम मालूम नहीं होती ?" मंत्रीने कहा कि-' हे स्वामी! मुझे शुभ अथवा अशुभ वस्तु देख कर कुछ भी विस्मय नहीं होता क्योंकि पुद्गल स्वभाव ही से घड़ी में सुगंधी, घड़ी में दुर्गंधी, घड़ी में सुरस, घड़ी में निरस हो जाते हैं, अतः उनकी प्रशंसा या निन्दा करनी अयुक्त है।" राजा को उसके वचनों पर विश्वास नहीं हुआ। एक बार राजा सर्व परिवार सहित उद्यान में जाता था वहां मार्ग में नगर फिरती खाई थी वह आई। उसमें जल कम

किया है। राजाने मंत्री से पूछा तो मंत्रीने कहा कि-हे स्वामी ! यदि आप मुझे अभयदान दें तो मैं इस जल का वृत्तान्त सुनाऊं। यह सुन कर राजाने उसे अभय दिया तो मंत्रीने कहा कि-हे राजा ! यह पानी उसी खाई का है। राजाने इस बात पर विश्वास नहीं किया तो मंत्रीने राजा के समक्ष उस खाई का जल मंगवा कर पूर्व कही विधि अनुसार जल को स्वादिष्ट बनाया। यह देख कर राजा विस्मित होकर बोला कि-हे मंत्री ! तुमने यह रीति कैसे जानी ? मंत्रीने कहा कि-हे देव जिनागम सुनने से तथा सद्धा से इन सर्व पुद्गलों के परिणाम का ज्ञान होता है। हे राजा ! पुद्गलों की शक्ति अचिन्त्य है। अनेक प्रकार का परिणाम पाना इनका स्वभाव है परन्तु ये सब स्वभाव तिरो भाव से वर्तते हैं। इन सब स्वभावों को ज्ञानी ज्ञान से जान सकते हैं। छद्मस्थ जीव ज्ञानावरणीयादिक कर्मों के आवरण के कारण सम्यक् प्रकार से नहीं जान सकते। फिर ये शास्त्र के उन वचनों को अवश्य मानते हैं।

अपितु हे राजा ! इस जगत में वस्तु की अनुपलब्धि (अप्राप्ति) दो प्रकार से होती है (एक तो सत् वस्तु की अप्राप्ति और दूसरी असत वस्तु की अप्राप्ति) इन में खरगोश की सींग, आकाशपुष्प, आदि असत् वस्तु की प्राप्ति कहलाती है अर्थात् ये वस्तुयें दुनियां में है ही नहीं। दूसरी सत् वस्तु की प्राप्ति वह आठ प्रकार की है। उन में अति दूर होनेवाली वस्तु की प्राप्ति न हो

यह पहला प्रकार है। इसके भी देश, काल और स्वभाव ये तीन भेद है। जैसे कोई पुरुष दूसरे गांव गया इससे वह दिखाई नहीं देता। इससे क्या वह पुरुप नहीं है? परन्तु देश से अति दूर चले जाने के कारण उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार समुद्र के दूसरे किनारे पर मेरु आदि है, वे सत होने पर भी दूर होने के कारण दिखाई नहीं देते अथवा काल से दूर होने पर भी दिखाई नहीं देते जैसे मरे हुए अपने पूर्वज तथा अब होनेवाले पद्मनाभ जिनेश्वर आदि काल से दूर होने के कारण दिखाई नहीं देते। तीसरा प्रकार स्वभाव से दूर हो वे भी दिखाई नहीं देते जैसे आकाश, जीव, भूत, पिशाच आदि दिखाई नहीं देते। ये पदार्थ हैं परन्तु चर्मचक्षु-गोचर नहीं हो सकते। ये तीन भेद पहिले विप्रकर्ष (दूर) नामक प्रकार के हैं। दूसरा प्रकार अति समीपवाली वस्तु भी दिखाई नहीं देती। जैसे नेत्र में डाला हुअ काजल दिखाई नहीं देता। क्या वो नहीं है? है जरुर। इन्द्रिय के घात होने से वस्तु नहीं दिखाई देती यह तीसरा प्रकार। जै अंध, वधिर आदि मनुष्य रूप, शब्द आदि नहीं है? है जरुर तथा मन के असावधानपन से वस्तु दिखाई नहीं देती। यह चौ प्रकार है। जैसे अस्थिर चित्तवाला मनुष्य अपने पास हो जानेवाले हाथी को भी नहीं देख सकता तो क्या हाथी वहां हो नहीं गया? गया है। तथा अतिसूक्ष्मपन से वस्तु दिखाई न देती यह पांचवा प्रकार है। जैसे जाली में होकर अन्दर गि

समय सूर्य की किरणों में स्थित त्रसरेणु (रजकण) तथा परमाणु-द्वयणुक आदि तथा इसी प्रकार सूक्ष्म निगोद के जीव आदि दिखाई नहीं देते इससे क्या वे नहीं है ? हैं जरुर। तथा किसी वस्तु के आवरण से कोई वस्तु दिखाई न दे यह छठा प्रकार है। जैसे भींत के अन्दर रहनेवाली वस्तु दिखाई नहीं देती तो क्या वह वस्तु नहीं है ? है अवश्य। चन्द्रमंडल का पिछला भाग दिखाई नहीं देता क्योंकि वह आगे के भाग से व्यवहित हुआ है। इसी प्रकार शास्त्र के सूक्ष्म अर्थ भी मति की मन्दता के कारण नहीं जाने जा सकते। तथा एक वस्तुद्वारा दूसरी वस्तु का पराभव हो जाने से वह (दूसरी) वस्तु दिखाई नहीं देती यह सातवां प्रकार है। जैसे सूर्यादिक के तेज से पराभव पाए हुए ग्रह, नक्षत्र, आकाश में प्रकट होने पर भी दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार अंधकार से पराभव पाया हुआ घड़ा दिखाई नहीं देता। तो क्या वह वस्तु नहीं है ? अवश्य है। तथा समान वस्तु के साथ मिल जाने से जो दिखाई न दे वह आठवां प्रकार है। जैसे किसी के मूंग के ढ़ेर में एक मुट्ठी भर अपने मूंग डाले हों अथवा किसी के तिल के ढ़ेर में अपने तिल डाले हों और हम उसे जानते हो फिर भी हमारे डाले हुए मूंग या तिल दिखाई नहीं देते (अलग नहीं किये जा सकते) इसी प्रकार जल में डाला हुआ लवण, मिश्री आदि अलग अलग दिखाई नहीं देते तो क्या इससे जल में लवण या मिश्री नहीं है ? अवश्य है। इस प्रकार

आठ प्रकार से होनेवाली वस्तु की भी अप्राप्ति होती है। इस प्रकार पुद्‌गल तथा जीव आदि में अनेक स्वभाव विद्यमान हैं जो अनु- क्रम से प्रकट होते हैं परन्तु उन सर्व स्वभावों की विप्रकर्षादि कारणों के कारण प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसा सर्वत्र जानना चाहिये।

इसमें यदि किसी को शंका हो कि–ऊपर बतलाये हुए प्रकारों में देवदत्त आदि के देशांतर में जाने से दिखाई नहीं देते ऐसा जो कहा गया है। वे यद्यपि हमको अदृश्य हैं फिर भी वे जिस देश में गये हैं उन देशों के लोगों को तो प्रत्यक्ष है, अतः उनकी सत्ता मानने में हमे बाधा नहीं है परन्तु जीवादिक को तो कोई भी कभी भी नहीं देख सकता है तो फिर कैसे माने कि–वे जीवादिक हैं? इसका यह उत्तर है कि–जैसे परदेश गये हुए देव- दत्तादिक कईयों को प्रत्यक्ष होने में उनका होनापन माना जा सकता है उसी प्रकार जीवादिक पदार्थ भी केवली को प्रत्यक्ष होने से उनका होनापन माना जा सकता है। अथवा परमाणु निरन्तर अप्रत्यक्ष है तो भी उनके (परमाणु के) कार्य से उनकी सत्ता (होनापन) अनुमान से सिद्ध होती है, इसी प्रकार जीवादिक भी उनके कार्य से अनुमान द्वारा सिद्ध हो सकते हैं।

इस प्रकार सिद्धान्त के वाक्यों की युक्तियों से सुबुद्धि प्रधान ने राजा को प्रतिबोध किया। इसलिये राजा देशविरति (बारह व्रत) अंगीकार कर श्रावक हुआ। फिर कुछ समय पश्चात

राजा तथा प्रधान ने प्रव्रज्या ग्रहण की और अनुक्रम से मोक्षपद प्राप्त किया। कहा है कि—

जियसत्तु पडिबुद्धो, सुबुद्धिवयणेण उदयनायंमि।
तहोवि समणसिंहा, सिद्धा इक्कारसंगधरा ॥१॥

भावार्थः—सुबुद्धि मंत्री के वचनों द्वारा जल के दृष्टान्त से जितशत्रु राजा ने प्रतिबोध प्राप्त किया और उन दोनों श्रमणसिंहों ने अगियार अंग को धारण कर सिद्धपद को प्राप्त किया।

इन चार स्तंभ में समग्र बुद्धि के निधानरुप समकित को अनेकों प्रकार से दृष्टान्तों सहित बतलाया गया है। यह समकित मोक्ष के सर्व शुभ हेतुओं में मुख्य है, अतः पाठकों को (पढ़ने, पढ़ाने व सुननेवालों को) उस समकित की प्राप्ति के लिये सतत उद्योग करना चाहिये।

इत्यब्ददिनपरिमितोपदेशप्रासादवृत्तौ चतुर्थस्तंभे
एकषष्टितमम् व्याख्यानम् ॥ ६१ ॥

॥ इति चतुर्थः स्तंभः ॥

॥ इति प्रथम खंडः ॥